CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

यूरोपीय दर्शन

स्व० महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

यूरोपीय दर्शन

स्व० महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रकाशक:
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना-४

(C) बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
द्वितीय संस्करण २,०००
शकाब्द १८९२; विक्रमाब्द २०२७; खृष्टाब्द १९७१
मूल्य : ३.५०

मुद्रक :
प्रभात प्रेस, पटना-१

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu; Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

वक्तव्य

'यूरोपीय दर्शन' का नया संस्करण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने में हमें हर्ष और गौरव का अनुभव हो रहा है। इस छोटी-सी, किन्तु विलक्षण पुस्तक में यूरोपीय दर्शन का गुरु-भाग असाधारण पाण्डित्य के साथ उपस्थित किया गया है। चूँकि यह पुस्तक सर्वप्रथम सन् १९०५ ई० में ही छप चुकी थी, इसलिए इसमें बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक से अद्यपर्यन्त उपस्थित होनेवाली दार्शनिक अन्तर्धाराओं का समावेश स्वभावतः नहीं हो सका है। तथापि, इस पुस्तक में यूरोपीय दर्शन से सम्बद्ध जो विद्वत्तापूर्ण सामग्री उपस्थित की गई है, वह इसके लेखन-काल को ध्यान में रखते हुए प्रतिपादन, विश्लेषण और अद्यतन सूचनाओं की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके एकाधिक अध्याय में हमें लेखक के चिन्तन-प्रकर्ष, अद्वितीय वैदुष्य और तर्कपुष्ट प्रतिपादन-क्षमता की अनाविल झाँकी मिलती है। पुस्तक के आकारानुसार छोटे फलक पर ही सही, लेखक को जहाँ मनोनुकूल प्रतिपाद्य मिला है, उसकी विद्वत्ता तुंग तरंग बनकर फैल गई है। जैसे, 'प्राचीन दर्शन' खण्ड के प्रथम अध्याय के अन्तर्गत एनेक्सागोरस की दार्शनिक प्रतिपत्तियों के विश्लेषण-क्रम में और 'आधुनिक समय का दर्शन' शीर्षक खण्ड के तृतीय अध्याय में काण्ट की दार्शनिक मान्यताओं के विवेचन-क्रम में। काण्ट की विवेचना करते हुए दो-तीन पृष्ठों में ही विद्वान् लेखक ने उसके 'क्रिटीक डेर राइनन् फर्नुन्फ्ट' की आधारभूत मान्यताओं का ऐसा गम्भीर विश्लेषण किया है, जो श्रीकृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, डॉ० रासविहारी दास, डॉ० आबिद् हुसैन, प्रिन्सिपल भाटे आदि जैसे अन्य भारतीय विद्वानों द्वारा काण्ट पर लिखे गये विस्तृत निबन्धों और ग्रन्थों में भी नहीं मिलता।

लेखक ने इस ग्रन्थ के अन्तर्गत यूरोपीय दर्शन के इतिहास को प्रचलित त्रिधा काल-विभाजन—प्राचीन, मध्य और आधुनिक, जिसे हम काल की परम्परा-स्वीकृत त्रिभंगी मूर्त्ति कह सकते हैं, के अनुसार तीन खण्डों में बाँट दिया है। इन तीन खण्डों के नाम इस प्रकार हैं—'प्राचीन दर्शन', 'मध्यम समय का दर्शन', और 'आधुनिक समय का दर्शन'। इनमें अन्तिम खण्ड अन्य दो खण्डों की तुलना में काफी विस्तृत है; क्योंकि इसमें लेखक ने ग्रन्थ-रचनाकाल तक की नवीनतम प्रवृत्तियों को समेट लेने की स्तुत्य चेष्टा की है। इस तरह, प्रस्तुत ग्रन्थ में लेखक ने ईसा-पूर्व छठी शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक तक लगभग ढाई हजार वर्षों की कालावधि में फैले हुए यूरोपीय दर्शन की उन महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों को समाकलित किया है, जिन्हें थेलीज से हार्टमान के काल तक विभिन्न यूरोपीय दार्शनिकों ने अपनी मनीषा से अर्जित और संचालित किया है। यूरोपीय दर्शन के इतिहास को उपर्युक्त तीन काल-खण्डों में

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

विभाजित करने के औचित्य का आधार-संकेत लेखक के 'पौरस्त्य और पाश्चात्य दर्शन' शीर्षक एक निबन्ध में मिलता है, जो 'पाटलिपुत्र' के विशेषांक (भाग २, माघ कृष्ण ३०, संवत् १९७२) में प्रकाशित हुआ था। इस निबन्ध के प्रारम्भ में ही लेखक ने दर्शन को तीन अवस्थाओं—प्राचीन, मध्यम और नवीन—में बाँटकर उसकी व्याख्या त्रिगुणात्मिका प्रकृति के आधार पर की है। इनकी मान्यता है कि प्राचीन दर्शन सत्त्वप्रधान, मध्यकालीन दर्शन तमः प्रधान और आधुनिक (नवीन) दर्शन रजःप्रधान है। निश्चय ही, लेखक की इस विचारणीय मान्यता को निर्विवाद नहीं माना जा सकता है।

ग्रन्थकार ने आयोनिया के तीन दार्शनिकों—थेलीज, एनेक्सिमेण्डर और एनेक्सिमेनीज से प्राचीन दर्शनेतिहास के विवेचन को प्रारम्भ किया है और यूनान को यूरोपीय दर्शन का उद्गम-स्थल माना है। सचमुच, यूनान में आरम्भ से ही दर्शन का चूडान्त महत्त्व रहा है। प्लेटो का कहना था कि वास्तविक ज्ञान 'दार्शनिक विवेक' से ही सम्भव होता है। यह एक तथ्य है कि यूनान के सभी पुराने दार्शनिकों ने सृष्टि के अचिन्तनीय आरम्भ और अन्त पर सबसे अधिक चिन्तन किया था। इन्हें इस प्रश्न ने बहुत झकझोरा था कि सृष्टि का विशेषरहित मूल द्रव्य क्या है। किसी ने जल को मूल द्रव्य माना और किसी ने वायु को। पुराने यूनानी दार्शनिकों में केवल एनेक्सागोरस ही एक ऐसा दार्शनिक था, जिसने सृष्टि के मूल में अनेक तत्त्वों की स्थिति को स्वीकार किया। विद्वान् लेखक ने एनेक्सागोरस के विचारों का किंचित् विस्तृत विश्लेषण किया है। शायद, इसलिए कि यही यूरोप का वह पहला दार्शनिक है, जिसने सृष्टि के मूल में 'Nous' (परमात्मा) की विद्यमानता को स्वीकार कर यूरोपीय चिन्तन में ईश्वर का स्थापन किया और सृष्टि-क्रम का ऐसा आस्तिक विवरण-विश्लेषण प्रस्तुत किया, जो 'ऋग्वेद' के नासदीय सूक्त एवं 'मनुस्मृति' के प्रारम्भ में प्राप्त सृष्टि-क्रम के विवरण से पृथुल साम्य रखता है। यह साम्य भारतीय दर्शन में प्राप्त सत् और महत्तत्त्व की परिकल्पना में तथा यूरोपीय दर्शन में उल्लिखित येहोवा और Logos की धारणा में भी देखा जा सकता है। कारण, अप्रमेय ईश्वर की परिपृच्छा, प्रत्याहरण और कैवल्य-मुक्ति की कामना से प्रेरित होकर ही सभी देशों या महादेशों के आस्तिक दर्शन का अधिकांश निर्मित हुआ है। दर्शनेतिहास की विकास-सरणि की दृष्टि से भी भारतीय दर्शन और यूरोपीय दर्शन में यह साम्य है कि यूरोप में भी भारत की तरह पौराणिक परिकल्पनाओं से ही दार्शनिक निरूपणों का प्रादुर्भाव हुआ है। दूसरी बात यह है कि प्रारम्भ में दर्शन और आचार को अभिन्न मानने के कारण भारत की तरह यूरोप में भी दर्शनशास्त्र धर्मशास्त्र का ही एक अंग था। यूरोप में सुकरात ने दर्शन की ऐसी आचारवादी व्याख्या कर दी कि वहाँ दर्शनशास्त्र को धर्मशास्त्र का अंग बन जाना पड़ा। बहुत बाद में दर्शनशास्त्र धर्मशास्त्र से पृथक् अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व गढ़ सका और अपने प्रौढ़िकाल के बाद ही अनेक व्याप्तिग्रहों का तर्कयुक्त निरूपण कर सका।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रकट है कि यूरोपीय दर्शन और भारतीय दर्शन में हमें जो भिन्नता मिलती है, वह चिन्तन-विषयों की नहीं, मुख्यतः चिन्तन-पद्धतियों की भिन्नता है। इस प्रसंग में यह भी लक्ष्य करने योग्य है कि यूरोपीय दर्शन भारतीय दर्शन की तुलना में कम पारम्परिक रहा है, कारण, यूरोपीय दर्शन के असदृश भारतीय दर्शन का विकास केवल व्यक्तियों द्वारा नहीं, मुख्यतः सम्प्रदायों के माध्यम से हुआ है। इस अन्तर का प्रभाव दोनों भूभागों के दर्शन की विकास-गति पर भी पड़ा है। जैसे यूरोपीय दर्शन का केवल प्राचीन काल ही उज्ज्वल नहीं रहा है, बल्कि उसका आधुनिक काल भी चिन्तन के अनेक शिखरों से महिमा-मण्डित है, जबकि भारतीय दर्शन का केवल प्राचीन काल अद्वितीय रहा है और आधुनिक काल तक आते-आते इसकी मौलिक चिन्तना लगभग मन्द पड़ गई है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आधुनिक यूरोपीय दर्शन वैज्ञानिक चिन्तन और प्रौद्योगिक विकास के ग्राह्य प्रभावों को स्वीकार कर कान्तिमान् बन गया है, जबकि आधुनिक भारतीय दर्शन इस दृष्टि से पाण्डु है। दूसरी बात यह है कि अपेक्षाकृत अधिक बुद्धिवादी और ज्ञानमार्गी होने के कारण यूरोपीय दर्शन में संशय और चुनौती की मात्रा अधिक है, जब कि मुमुक्षा-प्रधान भारतीय दर्शन में आस्था और श्रद्धा-तत्त्व की अधिकता रही है। इसी का एक आनुषंगिक फल यह है कि यूरोपीय दर्शन के कम आमुष्मिक होने के कारण उसमें विश्व-प्रक्रिया की अपेक्षाकृत अधिक व्याख्याएँ मिलती हैं।

वस्तुतः, स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं०रामावतार शर्माजी का यह 'यूरोपीय दर्शन' व्यापकता की दृष्टि से पाश्चात्य दर्शन ही है। यदि इस ग्रन्थ के अन्त में अमेरिका के कुछ दार्शनिकों—जैसे, चार्ल्स पीयर्स, विलियम जेम्स, जॉन ड्यूई और जॉर्ज सेण्टायना पर थोड़ी सामग्री दे दी जाती, तो इस ग्रन्थ और डॉ० दीवानचन्द के 'पश्चिमी दर्शन' में, जो बहुत हाल का ग्रन्थ है, क्षेत्र-विस्तार की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं रह पाता।

आशा है, इस सारभूत ग्रन्थ का यह नया संस्करण अपने पाठकों को अधिक प्रीत करेगा।

पटना,
रंगभरी एकादशी, २०२७ विक्रमाब्द

(डॉ०) कुमार विमल
निदेशक

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

वक्तव्य

[प्रथम संस्करण]

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
येषां नास्ति यशःकाये जरामरणजं भयम् ॥

प्रस्तुत पुस्तक 'यूरोपीय दर्शन' के लेखक स्वर्गीय महामहोपाध्याय विद्यामहोदधि पं० रामावतारशर्मा अपने समय के एक नक्षत्री पुरुष और उद्भट प्रतापी विद्वान् थे। उन्होंने विद्वत्ता और बहुभाषाभिज्ञता के क्षेत्र में अपने युग को निच्छत्र-सा कर दिया था। वे जहाँ कहीं, जिस किसी विद्वन्मण्डली में रहे, सर्वत्र ही उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का लोहा माना गया। पूज्य शर्माजी के समसामयिक विद्वान् डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने ठीक ही कहा था कि शर्माजी के साथ रहने पर जान पड़ता है कि, सचमुच, महर्षि कपिल-कणाद के साथ हैं। उनके शुभ जन्म से बिहार की भूमि तो धन्य एवं कृतकृत्य हुई ही, भारत भी उनके पाण्डित्य-प्रकर्ष से गौरवान्वित हुआ।

जहाँतक हमें पता है, सबसे पहले, हमारे पूज्य राष्ट्रपति देशरत्न डॉ० राजेन्द्र प्रसादजी के ध्यान में यह बात आई कि शर्माजी की समस्त संस्कृत-हिन्दी-रचनाओं को पुस्तक-रूप में प्रकाशित करके ही बिहार उनके ऋण से उद्धार पा सकता है। फलतः, राष्ट्रपतिजी से बिहार-सरकार को प्रेरणा मिली। फिर बिहार-सरकार ने यह काम अपने शिक्षा-विभाग को सौंपा। शिक्षा-विभाग ने शर्माजी की समस्त संस्कृत-रचनाओं के प्रकाशन का भार पटना-विश्वविद्यालय को और हिन्दी-रचनाओं के प्रकाशन का अधिकार बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् को दिया।

बिहार-राज्य के शिक्षा-विभाग के आदेशानुसार इस परिषद् ने शर्माजी की सभी हिन्दी-रचनाओं की खोज शुरू की। शर्माजी के सुपुत्र, हिन्दी-जगत् के लब्धप्रतिष्ठ आलोचक और निबन्धकार प्रोफेसर नलिनविलोचन शर्मा से खोज के काम में बड़ी सहायता मिली। उन्होंने पटना-विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से इस पुस्तक के प्रथम संस्करण की एक प्रति लाकर परिषद् को दी। वह पहले-पहल सन् १९०५ ई० में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुई थी। परिषद्-कार्यालय में उसी की हू-ब-हू नकल कराई गई। परिषद् के प्रकाशनाधिकारी श्रीअनूपलाल मण्डल ने स्वयं ही नकल को असल से ठीक-ठीक मिलाया। मूल में कहीं भी किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं किया गया।

यहाँ एक बात विशेष उल्लेखनीय है। उक्त 'सभा' ने इस पुस्तक का एक नवीन परिवर्द्धित संस्करण इसी नाम से निकाला है। उसपर हिन्दी-संसार के सुप्रतिष्ठित समीक्षक और यशस्वी पत्रकार श्रीगुलाबरायजी का नाम छपा है; शर्माजी के नाम का

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

वक्तव्य

[प्रथम संस्करण]

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
येषां नास्ति यशःकाये जरामरणजं भयम्॥

प्रस्तुत पुस्तक 'यूरोपीय दर्शन' के लेखक स्वर्गीय महामहोपाध्याय विद्यामहोदधि पं० रामावतारशर्मा अपने समय के एक नक्षत्री पुरुष और उद्भट प्रतापी विद्वान् थे। उन्होंने विद्वत्ता और बहुभाषाभिज्ञता के क्षेत्र में अपने युग को निच्छत्र-सा कर दिया था। वे जहाँ कहीं, जिस किसी विद्वन्मण्डली में रहे, सर्वत्र ही उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का लोहा माना गया। पूज्य शर्माजी के समसामयिक विद्वान् डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने ठीक ही कहा था कि शर्माजी के साथ रहने पर जान पड़ता है कि, सचमुच, महर्षि कपिल-कणाद के साथ हैं। उनके शुभ जन्म से बिहार की भूमि तो धन्य एवं कृतकृत्य हुई ही, भारत भी उनके पाण्डित्य-प्रकर्ष से गौरवान्वित हुआ।

जहाँतक हमें पता है, सबसे पहले, हमारे पूज्य राष्ट्रपति देशरत्न डॉ० राजेन्द्र प्रसादजी के ध्यान में यह बात आई कि शर्माजी की समस्त संस्कृत-हिन्दी-रचनाओं को पुस्तक-रूप में प्रकाशित करके ही बिहार उनके ऋण से उद्धार पा सकता है। फलतः, राष्ट्रपतिजी से बिहार-सरकार को प्रेरणा मिली। फिर बिहार-सरकार ने यह काम अपने शिक्षा-विभाग को सौंपा। शिक्षा-विभाग ने शर्माजी की समस्त संस्कृत-रचनाओं के प्रकाशन का भार पटना-विश्वविद्यालय को और हिन्दी-रचनाओं के प्रकाशन का अधिकार बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् को दिया।

बिहार-राज्य के शिक्षा-विभाग के आदेशानुसार इस परिषद् ने शर्माजी की सभी हिन्दी-रचनाओं की खोज शुरू की। शर्माजी के सुपुत्र, हिन्दी-जगत् के लब्धप्रतिष्ठ आलोचक और निबन्धकार प्रोफेसर नलिनविलोचन शर्मा से खोज के काम में बड़ी सहायता मिली। उन्होंने पटना-विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से इस पुस्तक के प्रथम संस्करण की एक प्रति लाकर परिषद् को दी। वह पहले-पहल सन् १९०५ ई० में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुई थी। परिषद्-कार्यालय में उसी की हू-ब-हू नकल कराई गई। परिषद् के प्रकाशनाधिकारी श्रीअनूपलाल मण्डल ने स्वयं ही नकल को असल से ठीक-ठीक मिलाया। मूल में कहीं भी किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया गया।

यहाँ एक बात विशेष उल्लेखनीय है। उक्त 'सभा' ने इस पुस्तक का एक नवीन परिवर्द्धित संस्करण इसी नाम से निकाला है। उसपर हिन्दी-संसार के सुप्रतिष्ठित समीक्षक और यशस्वी पत्रकार श्रीगुलाबरायजी का नाम छपा है; शर्माजी के नाम का

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

सांकेतिक उल्लेख-मात्र आरम्भिक वक्तव्य में किया गया है। किन्तु परिषद् ने केवल शर्माजी की स्मृति-रक्षा के उद्देश्य से ही इस पुस्तक को मूल रूप में प्रकाशित किया है।

यह पुस्तक जब सर्वप्रथम (सन् १९०५ ई० में) प्रकाशित हुई थी, तबसे आज तक, सभी क्षेत्रों में, दुनिया बहुत आगे बढ़ गई है। दार्शनिक विचारों के क्षेत्रों में भी स्वभावतः बहुत-सी क्रान्तियाँ हुई हैं। यही बात ध्यान में रखकर परिषद् ने यह आवश्यक समझा कि पूज्य शर्माजी पाश्चात्य दर्शन के सम्बन्ध में जहाँतक लिख गये हैं, वहाँ से आगे की बातें भी संक्षेप में इस पुस्तक के साथ जोड़ दी जायँ, जिससे शर्माजी की मूल पुस्तक पढ़नेवाले सज्जन पाश्चात्य दर्शन की आधुनिक स्थिति एवं प्रगति से भी परिचित हो जायँ। इसीलिए परिषद् ने पटना-कॉलेज के दर्शन-विभागाध्यापक पं० हरिमोहन झा से इस पुस्तक की भूमिका लिखवाई। उसमें प्रो० झा ने पूज्य शर्माजी के विषय में जो कुछ लिखा है, वह तो पठनीय है ही, पाश्चात्य दर्शन के सम्बन्ध में भी उन्होंने संक्षिप्त रीति से सारी ज्ञातव्य बातें लिख दी हैं। लगभग पचास वर्षों के अन्दर की अवधि में पाश्चात्य दर्शन की जितनी मुख्य बातें हैं, उतनी तो एक छोटी-सी भूमिका में नहीं कही जा सकतीं, फिर भी प्रो० झा ने पाठकों को ऐसा आलोक दिया है, जिससे वे पाश्चात्य दर्शन की अबतक की पहुँच को स्पष्ट देख सकते हैं।

अन्त में पाठकों को यह सूचना देते हुए सन्तोष होता है कि पूज्य शर्माजी की 'निबन्धावली' भी इसी पुस्तक के साथ-साथ परिषद् से प्रकाशित की गई है। उसमें शर्माजी की सभी उपलब्ध हिन्दी-रचनाओं का संग्रह है। फिर भी, हमें विश्वास है कि उनकी कुछ और रचनाएँ बहुत अनुसन्धान करने पर भी हमें नहीं मिल सकी हैं। इस विषय में हमें सहृदय हिन्दी-प्रेमियों की सहायता की सदा अपेक्षा रहेगी।

शिवपूजन सहाय
(परिषद्-मन्त्री)

मकर-संक्रान्ति
वि० सं० २००९

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

विषय-सूची

वि० पू०—विक्रम-पूर्व संवत् । वि०—विक्रम-संवत् ।

भूमिका .... १—१३

प्रस्तावना .... क—घ

प्राचीन दर्शन

प्रथम अध्याय

थेलीज (वि० पू० ५६८—४९२) १

ऐनैक्सिमैण्डर (वि० पू० ५५५—४९१) १

ऐनैक्सिमैनीज (वि० पू० ५३२—४६८) १

हिप्पो, इडीयस, डियोजेनीज २

पीथागोरस (वि० पू० ५२४—४४४) २

जेनोफेनीज (वि० पू० ५२० —४२४) २

पार्मेनिडीज (वि० पू० ४६४) २

जीनों (वि० पू० ४८९) २

मेलिसस् २

हेरैक्लीटस् (वि० पू० ४७९—४१९) ४

एम्पैडोक्लीज (वि० पू० ४०४) ४

डीमोक्रीटस् (वि० पू० ४०४) ४

एनैक्सागोरस (वि० पू० ४४४—३७२) ४

प्रोटेगोरस् (वि० पू० ४२४—३५४) ४

द्वितीय अध्याय

साक्रटीज (वि० पू० ४६४—३८३) ८

प्लेटो (वि० पू० ३७१—२९१) ८

आरिस्टाटल (वि० पू० ३२८—२६६) ८

तृतीय अध्याय

जीनो, स्टोइक (वि० पू० २८६—२१४) १५

एपीक्यूरस (वि० पू० २८६—२२०) १६

पीरो (वि० पू० ३०४—३१४) १८

सेक्टस, एम्पिरिक्स और एनेसीडिमस (प्रथम शतक) १९

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

फाइलो (वि० २६—१०६) २२
प्लोटिनस (वि० २६०—३२६) २३
पर्फेरी (वि० २८९—३५६) २३
आयेम्बिलक्स् (वि० ३२६) २३
प्रोक्लस् (वि० ४६८—५४६) २४

मध्य समय का दर्शन

प्रथम अध्याय

आगस्टिन (वि० ४०९—४८६) २५
स्कौटस एरिजेना (नवम शतक) २६
एन्सेल्म (वि० १०८९—११६५) २६
टामस एकिनस् (१४०३) २८
डंसस्कोटस, ओकम २९

द्वितीय अध्याय

ब्रूनो (वि० १६०४—१६५६) ३०
कैम्पेनेला (वि० १६२४—१६९५) ३०
बेकन (फ्रैंसिस) (वि० १६१७—१६९५) ३१
हौब्स (वि० १६४४—१७३५) ३२

आधुनिक समय का दर्शन

प्रथम अध्याय

डेकार्ट (वि० १६५२—१७०६) ३४
स्पाइनोजा (वि० १६८८—१७३३) ३७
लीब्नीज (वि० १७००—१७७२) ४०

द्वितीय अध्याय

लाक (वि० १६८८—१७६०) ४२
बर्कले (वि० १७४१—१८०९) ४४
ह्यूम (वि० १६७७—१८३२) ४५
रीड (वि० १७६६—१८५२) ४६
कॉण्डियेक (वि० १८०६—१८३६) ४७

तृतीय अध्याय

काण्ट (वि० १७८०—१८५० .... ४९

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

चतुर्थ अध्याय

फिक्ट (वि० १८१८—१८७०) ५६
सेलिंग (वि० १८३१—१९१०) ५७

पंचम अध्याय

हेगेल (वि० १८२६—१८८७) ५८

षष्ठ अध्याय

सोपेनहावर (वि० १८४२—१८९७) ६५
हर्बार्ट (वि० १८४२—१८९७) ६८

सप्तम अध्याय

कौम्ट (वि० १८५४—१९१३) ७१
मिल (वि० १८६२—१९२९) ७४

अष्टम अध्याय

डार्विन (वि० १८६५—१९३८) ७६
स्पेन्सर (वि० १८७६—१९६१) ७९
ग्रीन (वि० १८९२—१९३८) ८२

नवम अध्याय

फेक्नर (वि० १८५७—१९४३) ८३
लोज (वि० १८६३—१९३७) ८४
हार्टमान (वि० १८९८) ८५

दशम अध्याय

दर्शन की साम्प्रतिक अवस्था ८७

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

यूरोपीय दर्शन

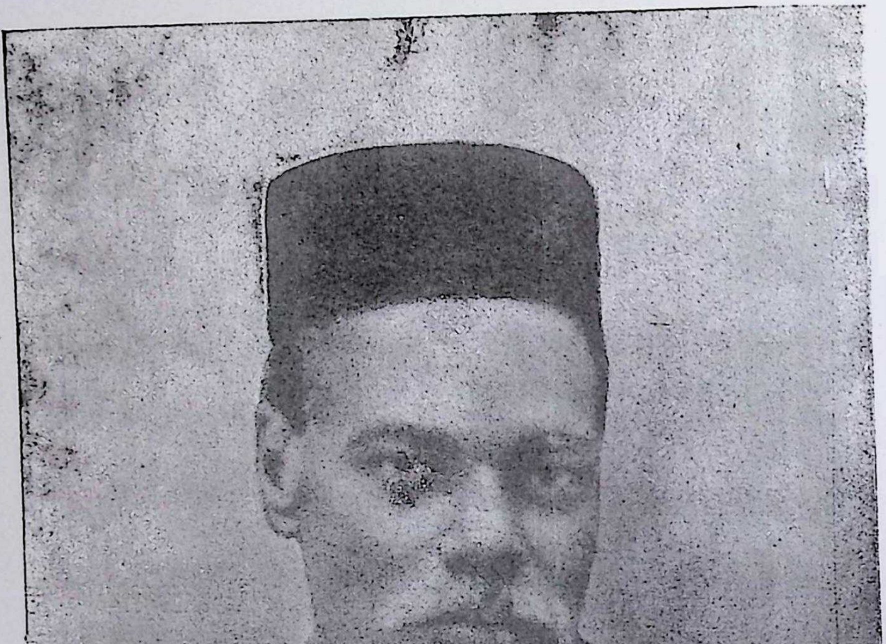

स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

भूमिका

अर्वाचीन काल में बिहार की रत्न-प्रसविनी भूमि पर जिन चिन्तकों को कपिल-कणाद की परम्परा जीवित रखने का श्रेय प्राप्त है, उनमें स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० रामाववार शर्मा का नाम अग्रगण्य है। आपका 'परमार्थदर्शन' विद्वन्मण्डली में सातवाँ दर्शन माना जाता है। जिस प्रकार, प्राचीन दर्शनकार अपने सूत्र-ग्रन्थ छोड़ गये हैं, उसी प्रकार शर्माजी भी अपने विचारों को संस्कृत-सूत्रों के रूप में लिपिबद्ध कर गये हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने सूत्रों पर भाष्य एवं वार्त्तिक भी लिखे हैं। ये सब संस्कृत में हैं। और, भाष्य का अधिकतर अंश अप्रकाशित है। इन कारणों से हिन्दी के पाठक अभी तक 'परमार्थदर्शन' का रसास्वादन नहीं कर सके हैं।†

शर्माजी सर्वतन्त्रस्वतन्त्र विद्वान् थे। उनकी अगाध विद्वत्ता एवं स्वतन्त्र चिन्तन-शक्ति का परिचय उनके 'परमार्थदर्शन' से मिलता है। प्रसंगानुसार वे शंकराचार्य प्रभृति दार्शनिकों की खबर लेने में भी नहीं चूकते। मायावाद की तो उन्होंने धज्जियाँ उड़ा दी हैं। सांख्य, वैशेषिक, वेदान्त—जो भी प्रतिपक्षी के रूप में उनके सामने आता है, उसकी खैर नहीं। वे सचमुच 'प्रतिपक्षिभयंकर' थे। यदि एक प्रचलित श्लोक में कुछ हेरफेर कर ऐसा कहा जाय, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी —

पलायध्वं पलायध्वं भो भो तार्किकदिग्गजाः।
रामावतार आयाति सिद्धान्तवनकेसरी ॥

शर्माजी में जैसा ही प्रगाढ पाण्डित्य था, वैसी ही अद्भुत प्रतिभा भी थी। इसलिए, वे जो भी बात कहते थे, चामत्कारिक ढंग से। जैसे सोने के ऊपर मीनाकारी का रंग चढ़ गया हो। उनकी रसनिर्झरिणी लेखनी की तुलना उनकी धाराप्रवाह वाग्मिता से ही की जा सकती थी। अपनी मौलिक सूझ, अकाट्य युक्तियों एवं आश्चर्यजनक प्रत्युत्पन्नमति की बदौलत वे शास्त्रार्थ में किसी को टिकने नहीं देते थे। बड़े-बड़े शास्त्रार्थदिग्गजों को वे पानी-पानी करके छोड़ देते थे। वे जिस बरात में जाते थे, वहाँ प्रतिपक्षी पण्डितों के देवता पहले ही कूच कर जाते थे।

'विचार में विलक्षणता के भाण्डार और आचार में सरलता के अवतार'—इन्हीं दो शब्दों में शर्माजी के व्यक्तित्व की झाँकी मिल जाती है। इतने बड़े विद्वान् होने पर भी

---

† आशा है, यह कमी अब शीघ्र ही दूर हो जायगी। क्योंकि, इन पंक्तियों का लेखक शर्माजी के सूत्र, वार्त्तिक एवं भाष्य के आधार पर 'परमार्थदर्शन' का सांगोपांग परिचय हिन्दी में प्रस्तुत कर रहा है, जो निकट भविष्य में प्रकाशित हो जायगा।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

देहाती किसान की-सी सादगी! इनका व्यक्तित्व ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की याद दिलाता है। उन्हीं की तरह ये भी समाज की मूर्खतापूर्ण रूढियों के कट्टर शत्रु थे। बाह्य आडम्बर और वेश-भूषा को कभी इन्होंने अधिक महत्त्व नहीं दिया। मामूली-सी धोती और मोटा-सा कुरता। यही उनकी पोशाक थी। प्रायः नंगे पाँव ही गंगास्नान के लिए निकल पड़ते थे। अगर धूप तेज रही, तो सिर पर टोप भी डाल लेते थे। इस तरह अपनी वैयक्तिक रुचियों में ये सर्वथा स्वाधीन रहते थे और जन-साधारण की आलोचना की परवा नहीं करते थे। बड़े-बड़े दार्शनिकों में जो एक सहज अलौकिकता अथवा असांसारिकता आ जाती है, उसका पर्याप्त अंश इनमें विद्यमान था।

शर्माजी का जन्म सन् १८७७ ई० में हुआ। आपके पिता का नाम था पं० देवनारायण शर्मा। वे छपरा के निवासी थे। बारह वर्ष की अवस्था तक शर्माजी ने घर ही पर अपने पिता से शिक्षा पाई। वहीं से आपने संस्कृत की प्रथमा परीक्षा दी और प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। तदुपरान्त आप काशी गये। वहाँ क्वीन्स कॉलेज में नाम लिखाया। उस समय म०म० पं० गंगाधर शास्त्री वहाँ के प्रख्यात अध्यापक थे। आप उन्हीं से पढ़ने लगे और अपनी कुशाग्र बुद्धि के कारण गुरु के अत्यन्त स्नेहभाजन बन गये। सन् १८९० ई० में आपने प्रथम श्रेणी में मध्यमा की। सन् १८९३ ई० में आपने कलकत्ता-संस्कृत-कॉलेज से काव्यतीर्थ किया। उसी वर्ष आपने काशी से व्याकरण में आचार्य (प्रथम खण्ड) की परीक्षा भी दी। इन सभी परीक्षाओं में प्रथम श्रेणी तो आपको मिली ही, साथ ही अनेक पदक-पुरस्कार आदि भी प्राप्त हुए। सन् १८९५ ई० में आपने इलाहाबाद-विश्वविद्यालय से इण्ट्रेंस परीक्षा पास की। उसमें भी प्रथम श्रेणी प्राप्त की। सन् १८९७ ई० में आपने काशी से साहित्याचार्य की परीक्षा दी। उसमें सर्वप्रथम आये। सन् १८९८ ई० में पंजाब युनिवर्सिटी से एफ्० ए० पास किया। संस्कृत में सर्वप्रथम आने के कारण पुरस्कार मिला। सन् १९०० ई० में आपने कलकत्ता-विश्वविद्यालय से संस्कृत लेकर बी० ए० (आनर्स) किया। सन् १९०१ ई० में एम्० ए० पास किया। इन दोनों परीक्षाओं में आप सर्वप्रथम आये और स्वर्णपदक से पुरस्कृत हुए। कहा जाता है कि एम्० ए० परीक्षा में उत्तर लिखते समय आपने ऋग्वेद से २०० उद्धरण दिये थे।

सन् १९०१ ई० में आप सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज, बनारस में संस्कृत के अध्यापक नियुक्त हुए। सन् १९०५ ई० तक आप उस पद पर आसीन रहे। इस अवधि में आप काशीस्थ विद्वन्मण्डली में सर्वप्रमुख सभापण्डित माने जाते थे। सन् १९०६ ई० में आप पटना कॉलेज के प्रोफेसर नियुक्त हुए। और, अन्त तक उस पद को सुशोभित करते रहे। बीच में दो बार छुट्टी लेकर बाहर भी गये। एक बार (सन् १९०७ से ९ ई० तक) कलकत्ता-विश्वविद्यालय में वसुमल्लिक व्याख्याता होकर, और दूसरी बार (सन् १९१९ से २२ ई० तक) काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय में ओरिएण्टल कॉलेज में प्रिन्सिपल होकर। अनेक विश्वविद्यालयों ने आपको व्याख्याता एवं प्रश्नकर्त्ता बनाकर अपना सम्मान बढ़ाया। पी-एच्० डी० के तो आप सर्वमान्य परीक्षक समझे जाते थे।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

शर्माजी अनेक भाषाओं के वेत्ता थे। संस्कृत, पालि, हिन्दी, अँगरेजी और लैटिन तक में उनकी रचनाएँ मिलतो हैं। उनकी सारी कृतियों को गिनना आसान नहीं। जो नाम मुझे उपलब्ध हो सके हैं, वे रचनाकाल के क्रमानुसार नीचे दिये जाते हैं —

१. हिन्दी

१. यूरोपीय दर्शन; रचनाकाल १९०५; काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित।
२. हिन्दी-भाषा-तत्व; व्याख्यान के रूप में; रचनाकाल १९०५; काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित।
३. हिन्दी-व्याकरण; रचनाकाल १९०७; कलकत्ता के 'देवनागर' नामक मासिक पत्र में प्रकाशित।
४. हिन्दी-व्याकरण और रचना की शिक्षण-पद्धति; रचनाकाल १९१०; बंगाल के शिक्षा-विभाग के हेतु प्रस्तुत।
५. विविध-विषयक निबन्ध; रचनाकाल १९१२-१३; सरस्वती, सुधा, माधुरी आदि में प्रकाशित।
६. मुद्गरानन्दचरित; रचनाकाल अज्ञात; नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका में प्रकाशित।
७. पद्यमय महाभारत; रचनाकाल अज्ञात।

२. संस्कृत और पालि

१. विविध गद्य-पद्यात्मक रचनाएँ—रचनाकाल १९०३—६; काशी की 'मित्रगोष्ठी' एवं 'सूक्तिसुधा' नामक मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित।
२. सदुक्तिकर्णामृत—प्राचीन पाण्डुलिपि के आधार पर सम्पादित; एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल के लिए; रचनाकाल १९०३—१०।
३. प्रियदर्शिप्रशस्तयः—मूल पालि-लेख के संस्कृत और अँगरेजी-अनुवाद; कलकत्ता-विश्वविद्यालय के लिए; रचनाकाल १९१०।
४. परमार्थदर्शन—सूत्रबद्ध दर्शन-ग्रन्थ—वार्त्तिकसहित; रचनाकाल—१९११-१२, १९१३ में काशी से मुद्रित। भाष्य का प्रथम अध्याय 'संस्कृत-संजीवन' नामक संस्कृत मासिकपत्र में प्रकाशित (१९४३)।
५. वाङ्मयमहार्णव—श्लोकबद्ध संस्कृत-विश्वकोश; रचनाकाल १९११—२५; ज्ञानमण्डल लि०, वाराणसी से प्रकाशित।
६. मुद्गरदूतम्—(व्यंग्यकाव्य); कालिदास के 'मेघदूत' की व्याकृति (पैरोडी); 'शारदा' पत्रिका में प्रकाशित।
७. भारतीयमितिवृत्तम्—संस्कृत-भाषा में भारतवर्ष का इतिहास।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

३. अँगरेजी

1. Philosophy of the Puranas (पुराणदर्शन)—रचनाकाल १९०२, Buch Metaphysics Prize द्वारा पुरस्कृत; अप्रकाशित।
2. Chapters from Indian Psychology (भारतीय मनोविज्ञान के कुछ अध्याय)—रचनाकाल १९०४; Buch Metaphysics Prize द्वारा पुरस्कृत; अप्रकाशित।
३. Gopal Basu Mallick Lectures on Vedantism (वेदान्त पर व्याख्यान); रचनाकाल १९०८; कलकत्ता-विश्वविद्यालय से प्रकाशित।
४. A Thesis on the age of Kalidasa (कालिदास के समय का निरूपण)—रचनाकाल १९०९; 'हिन्दुस्तान रिव्यू' में प्रकाशित।
५. Elementary Text Book of Etemal Law (परमार्थदर्शन की अँगरेजी-भूमिका); रचनाकाल १९११; अप्रकाशित।

उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त शर्माजी की बहुतेरी अन्यान्य रचनाएँ भी हैं। यथाः रामस्मृति, सत्यदेवकथा, साहित्यरत्नावली, धीरनैषध नाटक, जयप्रकाश-चरित-चम्पू, कालिदास और कृष्णसहस्र। इनमें अधिकांश अप्रकाशित हैं। शर्माजी ने 'कामन्दकीय नीतिसार' का अँगरेजी में और 'रघुवंश' का लैटिन में अनुवाद किया था। पर, उन पाण्डुलिपियों में अब कुछ पृष्ठमात्र ही अवशिष्ट हैं।

शर्माजी पुरातत्त्व के भी प्रेमी थे। उन्होंने गवेषणा द्वारा उड़िया-लिपि में तालपत्रों पर लिखित दो दुर्लभ काव्यग्रन्थों का अनुसन्धान किया—१. 'भारतामृतम्',जो महाभारत की घटनाओं के आधार पर रचित उन्नीस सर्गों का महाकाव्य है, २. 'नारायणशतकम्'—यह उनके अनुज पं० श्रीकान्त शर्मा के उद्योग से गायकवाड़ सिरीज, बड़ौदा... प्रकाशित हुआ है।

हर्ष का विषय है कि अब बिहार-सरकार का ध्यान शर्माजी की कृतियों की ओर गया है और सम्भवतः बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के उद्योग से निकट भविष्य में उनकी रचनाएँ प्रकाश में आ जायेंगी। आशा है कि बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, दिवंगत शर्माजी के सुयोग्य पुत्र प्रो० श्रीनलिनविलोचन शर्माजी के सहयोग से, इस पुण्यकार्य को सम्पादित कर अक्षय यश की भागिनी बनेगी। जिस दिन शर्माजी का अपूर्व 'परमार्थदर्शन' एवं अमूल्य 'विश्वकोष' छपकर जनता के समक्ष आ जायगा, उस दिन हम उस सरस्वती के अनन्य उपासक का सच्चा तर्पण कर सकेंगे।

शर्माजी वास्तविक अर्थ में दार्शनिक थे। प्राच्य एवं पाश्चात्य—दोनों दर्शनों पर उनका समान अधिकार था। भारतीय दर्शन की तरह समग्र यूरोपीय दर्शन भी उनके लिए हस्तामलकवत् था। हिन्दी में सर्वप्रथम यूरोपीय दर्शन लिखने का श्रेय उन्हीं को

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्राप्त है। प्रस्तुत पुस्तक आज से करीब ५० वर्ष पहले लिखी गई थी। इसमें ईसा के पूर्व छठी शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक (थेलीज से लेकर हार्टमैन तक) यूरोपीय दर्शन का इतिहास संक्षेप में वर्णित है। लगभग ढाई हजार वर्षों की विचार-धाराओं को कुल सौ पृष्ठों के भीतर रख देना गागर में सागर भरना है। शर्माजी ने यही काम किया है!

'यूरोपीय दर्शन' हिन्दी में अपने विषय का पहला ग्रन्थ है। आज से कुछ ही साल पहले यह काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से पुनःप्रकाशित हो चुका है। परन्तु, वह मूल रूप में नहीं है। श्रीयुक्त गुलाब राय ने उसमें यत्र-तत्र परिवर्त्तन-परिवर्द्धन किये हैं। अतः, एक ऐसे संस्करण की जरूरत थी, जो शर्माजी के मूल लेख को अक्षुण्ण रूप में पाठकों के सामने रख सके। इसी अभाव की पूर्त्ति के लिए बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने प्रस्तुत संस्करण निकाला है। इस दृष्टि से इस पुस्तक का विशेष ऐतिहासिक महत्त्व है।

शर्माजी ने अपने समय तक के यूरोपीय दर्शन के इतिहास का परिचय दिया है। परन्तु, इतिहास की कड़ियों का कभी अन्त नहीं होता। उन्होंने जहाँ विराम-चिह्न लगाया है, उसके अनन्तर पाश्चात्य दर्शन में अनेक अभिनव विचारधाराओं का प्रादुर्भाव हुआ है। अगली पंक्तियों में उनका दिग्दर्शन-मात्र कराया जाता है।

विगत शताब्दी के अन्तिम भाग में यूरोप प्रधानतः अध्यात्मवाद (Idealism) से प्रभावित रहा। उसके बाद बीसवीं सदी में जिन विचारधाराओं का उदय हुआ, वह अधिकांशतः अध्यात्मवाद की प्रतिक्रिया के रूप में।

यूरोप का आधुनिक अध्यात्मवाद मुख्यतः हेगेल के अध्यात्मवाद से प्रभावित है। हेगेल के उपरान्त उसके अनुयायियों के दो दल हो गये, जिन्हें हम क्रमशः दक्षिणपन्थी (Rightist) एवं वामपन्थी (Leftist) कह सकते हैं। प्रथम दल उन लोगों का था, जिन्होंने हेगेल के दर्शन की सहायता से सनातन धर्म एवं नीति का अनुमोदन किया। द्वितीय दल उन लोगों का था, जिन्होंने धार्मिक, नैतिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में क्रान्ति का समर्थन किया।

इंगलैण्ड में नव्य-हेगेलवाद (Neo-Hegelianism) के प्रमुख पृष्ठपोषक ये हुए—जे० एच्० स्टर्लिंग, टी० एच्० ग्रीन, एडवर्ड केयर्ड, जे० ई० मैकटगार्ट, एफ्० ब्रैडले एवं बर्नार्ड बासंक्वेट। अमेरिका में नव्य अध्यात्मवाद (Neo-Idealism) के सबसे बड़े प्रवर्त्तक हुए जोसिया रायस। स्टर्लिंग ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ Secret of Hegel (हेगेल का रहस्य) में दिखलाया है कि हेगेल का दर्शन काण्ट के दर्शन का ही विकसित परिणाम है। ग्रीन ने अपनी सुविख्यात कृति Prolegomena to Ethics (नीतिशास्त्र का उपोद्घात) में दिखलाया है कि चित्-तत्त्व ही मूल सत्ता है और आत्मसाक्षात्कार ही जीवन का उच्चतम ध्येय है। केयर्ड का Critical Philosophy of Kant (काण्ट का समीक्षात्मक दर्शन) नामक ग्रन्थ नव्य

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

अध्यात्मवाद का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। मैकटगार्ट ने अपने Nature of Existence (सत्ता का स्वरूप) नामक ग्रन्थ में यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि सत्ता चिदात्मक है और यह संसार आत्माओं का समुदाय-मात्र है। नव्य अध्यात्मवादियों में ब्रैडले अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनका दर्शन अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने आधुनिक चिन्तन को एक नई दिशा और गति प्रदान की है। अपने Apperance and Reality (आभास और मूलतत्त्व) नामक ग्रन्थ में यह दिखलाया है कि द्रव्य, गुण, सम्बन्ध अदि की सूक्ष्म विवेचना करने से हम इस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि ये सभी परस्पर विरोध से ग्रस्त हैं और अतएव जगत् का वह रूप, जो हमारी बुद्धि को प्रतीत होता है, आभास-मात्र है, वास्तविक सत्य नहीं। वास्तविक सत्य केवल निरपेक्ष ब्रह्म (Absolute) है। बासंक्वेट साहब अधिकांशतः ब्रैडले के अनुयायी हैं। उन्होंने Principle of Individuality (व्यक्तित्व का सिद्धान्त) नामक ग्रन्थ में मूल तत्त्व की विशद विवेचना की है।

इटली में नव्य अध्यात्मवाद के दो प्रमुख प्रवर्त्तक हुए हैं—क्रोचे और जेण्टाइल। क्रोचे ने अपने Philosophy of Spirit (चित्तत्त्व-दर्शन) में अपने प्रगतिशील अध्यात्मवाद की विवेचना की है। जेण्टाइल ने भी अपने The Theory of Mind as Pure Act (क्रियात्मक मानसवाद) नामक ग्रन्थ में अध्यात्मवाद का सक्रिय रूप प्रतिपादित किया है। जहाँ ब्रिटिश नव्य अध्यात्मवाद परब्रह्म (Absolute) को शाश्वत एवं परिवर्त्तनशील जगत् को आभासमात्र मानता है, वहाँ इटालियन नव्य अध्यात्मवाद (अमेरिकन नव्य अध्यात्मवाद की तरह) परिवर्त्तन और विकास को ब्रह्म का आवश्यक गुण समझता है। ये दोनों धाराएँ क्रमशः दक्षिणपक्ष एवं वामपक्ष कहलाती हैं।

अध्यात्मवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के फलस्वरूप यूरोप-अमेरिका में कई वादों का जन्म हुआ, जिसमें वस्तुवाद (Realism) अग्रगण्य है। ब्रैडले के दर्शन में अध्यात्मवाद अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। उन्होंने नामरूपात्मक जगत् को अन्तर्विरोधग्रस्त होने के कारण असत्य ठहराया था और एकमात्र परब्रह्म (Absolute) को ही सत्य माना था। परन्तु, ऐसी धारणा सामान्य व्यवहार एवं वैधानिक मान्यताओं के प्रतिकूल जाती है। फलतः, वर्त्तमान शताब्दी के वैज्ञानिक युग में अध्यात्मवाद के विरुद्ध वस्तुवाद का नारा बुलन्द होने लगा।

नवीन वस्तुवाद की दुन्दुभी मुख्यतः इंगलैण्ड और अमेरिका में बजी। दर्शन के इतिहास में इनसे पहले भी वस्तुवादी दार्शनिक हो चुके हैं। परन्तु, उनकी विचारधारा प्राचीन प्रणाली पर अवलम्बित थी। नया वस्तुवाद (Neo-Realism) नव्य अध्यात्मवाद का प्रतिपक्षी बनकर आया है।

नव्य अध्यात्मवाद के विरुद्ध जिन विचारकों ने वस्तुवादी मोर्चा कायम किया, उनमें दो ब्रिटिश दार्शनिकों के नाम अग्रगण्य हैं—मूर और बर्ट्रेण्ड रसेल। मूर साहब ने

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

अपने Refutation of Idealism (अध्यात्मवाद का खण्डन) नामक ग्रन्थ में अध्यात्मवाद की आधारभूत युक्तियों का खण्डन किया है। उनकी विश्लेषणात्मक शैली ने दर्शन के क्षेत्र में एक नया आदर्श स्थापित किया, जिसका विकसित रूप आजकल Logical Positivism (तार्किक यथार्थवाद) के नाम से प्रचलित है। इसका परिचय आगे दिया जायगा।

बर्ट्रेण्ड रसेल* .... संसार के सबसे बड़े चिन्तकों में हैं। उनके विचार इतने सुलझे हुए, लेखन-शैली इतनी आकर्षक और सूझ इतनी मौलिक होती है कि उनकी पुस्तकें पढ़ने में अद्भुत आनन्द मिलता है। उनकी जो भी कृति लीजिए, उनके विचारों की गहराई और कहने का चमत्कार देखकर चकित रह जाना पड़ता है। कठिन-से-कठिन विषय को सरस बना देने में इन्हें कमाल हासिल है। जो पाठक दर्शनशास्त्र को शुष्क और दुरूह समझकर दूर रहते हैं, उन्हें चाहिए कि इनकी पुस्तकें पढ़ें। उन्हें साहित्य का आनन्द मिलेगा।

रसेल साहब की कुछ पुस्तकें ये हैं—Problems of Philosophy (दर्शनशास्त्र की समस्याएं), An Outline of Philosophy (दर्शनशास्त्र की रूपरेखा), Knowledge of the External World (बाह्य जगत् का ज्ञान), An Analysis of Mind (मन का विश्लेषण), History of Western Philosophy (पाश्चात्य दर्शन का इतिहास)। हाल ही में Library of Living philosophers Series (जीवित दार्शनिक ग्रन्थमाला) से इनके ऊपर एक विशालकाय ग्रन्थ निकला है—The Philosophy of Bertrand Russell (बर्ट्रेंड रसेल का दर्शन), जिसमें इनके विचारों का भिन्न-भिन्न पहलुओं से अध्ययन किया गया है। रसेल साहब की विचारधारा निरन्तर विकसित और अग्रसर होती गई है। इन्द्रियों का विषय (Sense-datum) क्या है और बाह्य वस्तु (Physical Reality) से उसका क्या सम्बन्ध हो सकता है, इस विषय पर उन्होंने चिन्तन की सूक्ष्मतम बारीकियाँ दिखलाई हैं। उनके दर्शन का प्रभाव वर्त्तमान युग में सबसे अधिक है।

रसेल साहब की प्रतिभा सर्वतोमुखी है। उन्होंने जितना लिखा है, उतना शायद ही कोई दूसरा व्यक्ति लिख सका हो। दर्शन, नीति, धर्म, मनोविज्ञान, गणित, समाजशास्त्र—सब विषयों पर उनकी कृतियों का संकलन किया जाय, तो प्रायः दस हजार पृष्ठों से भी अधिक हो जायेंगे। और अभी ८० वर्ष की अवस्था में भी उनकी लेखनी अविराम गति से चल रही है। यदि इनकी सारी कृतियों का हिन्दी-अनुवाद हो जाय, तो वह साहित्य के भण्डार में अनुपम निधि होगा।

ह्वाइटहेड का दर्शन भी आधुनिक युग में एक विशिष्ट स्थान रखता है। ये भी बर्ट्रेण्ड रसेल की तरह विश्वविख्यात चिन्तक हैं। परन्तु इनकी भाषा कुछ दुरूह है। इनका

* अब स्वर्गीय

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

दर्शन नवीनतम पदार्थविज्ञान पर आधारित और आइंस्टाइन के सापेक्षवाद (Theory of Relativity) से प्रभावित है। इनका मत है कि यह दृश्यमान जगत् असंख्य सूक्ष्म कणों का समूह है, जिनमें प्रत्येक का विश्लेषण करने से हम अवयवों के भीतर अवयव पाते हैं और इस सिलसिले का कहीं अन्त नहीं मिलता। देश और काल का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। प्रवाहशील सत्ताओं का कृत्रिम विभाजन करने से ही देश और काल का हमें आभास होता है। इनकी कुछ प्रसिद्ध कृतियाँ ये हैं—Nature and Life (प्रकृति और जीवन), Science and the Modern World (विज्ञान और आधुनिक जगत्), The Concept of Nature (प्रकृति का भाव), Process and Reality (प्रक्रिया और वस्तु), The Principles of Natural Knowledge (प्राकृतिक ज्ञान के सिद्धान्त)। बर्ट्रेण्ड रसेल के साथ मिलकर इन्होंने Principia Mathematica (गणित-सिद्धान्त) लिखा है, जिसमें गणित एवं तर्कशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्तों की एकता स्थापित की गई है। इनके दर्शन पर भी Library of Living Philosophers Series (जीवित दार्शनिक ग्रन्थमाला) में बृहत्काय ग्रन्थ प्रस्तुत हुआ है।

नव्य वस्तुवाद (Neo-Realism) यूरोप तक ही सीमित नहीं रहा, उसकी लहर अमेरिका तक जा पहुँची। वहाँ होल्ट, मार्विन, मौण्टेग, पेरी, पिटकिन और स्पौल्डिंग-इन छह चिन्तकों ने सामूहिक रूप से The New Realism (नवीन वस्तुवाद) नामक ग्रन्थ प्रस्तुत कर नव्य वस्तुवाद की रूपरेखा स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उसी ढंग पर कुछ अन्य विचारकों (ड्रेक, लभज्वाय, प्रेट, रोजर्स, सण्टायन, सेलर्स एवं स्ट्रौंग) ने भी सम्मिलित रूप में Essays in Critical Realism (समीक्षात्मक वस्तुवाद-विषयक निबन्ध) लिखकर एक नई धारा की सृष्टि की, जो Critical Realism (समीक्षात्मक वस्तुवाद) कहलाती है। सण्टायन का Scepticism and Animal Faith इस सम्प्रदाय का प्रतिनिधि ग्रन्थ है।

अध्यात्मवाद की मान्यता है कि ज्ञाता से पृथक् ज्ञेय की सत्ता नहीं है। वस्तुवाद इसका खण्डन करता है। उसके अनुसार विषयों की स्वतन्त्र सत्ता है, अर्थात् वे ज्ञातृ-निरपेक्ष हैं। नव्य वस्तुवाद कहता है, जो वस्तु हम देखते हैं, वही वस्तु स्वतः भी अवस्थित है। चाहे कोई द्रष्टा रहे या नहीं, वह वस्तु उसी रूप में विद्यमान रहेगी। समीक्षात्मक वस्तुवाद भी यह स्वीकार करता है कि वस्तु की सत्ता ज्ञाता पर निर्भर नहीं है, परन्तु वह वस्तु और विषय में भेद मानता है। नव्य वस्तुवाद ज्ञाता से सम्बद्ध विषय एवं ज्ञाता से असम्बद्ध वस्तु में भेद नहीं मानता। इस दृष्टि से जहाँ नव्य वस्तुवादी अद्वैतवादी हैं, वहाँ समीक्षात्मक वस्तुवादी द्वैतवादी हैं। यही दोनों में अन्तर है।

वस्तुवाद के क्षेत्र में एक और भी अभिनव धारा का उदय हुआ है, जिसे Functional या Relativistic Realism (सापेक्ष वस्तुवाद) कहते हैं। इसके

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रवर्त्तक हैं, बूडिन साहब। जहाँ नव्य एवं समीक्षात्मक वस्तुवादी ज्ञाता से पृथक् ज्ञेय की स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं, वहाँ सापेक्ष वस्तुवादी ज्ञाता और ज्ञेय दोनों की सत्ता को अन्योन्याश्रित मानते हैं।

वस्तुवादी विचारधारा को Theory of Emergent Evolution (आविर्भावात्मक विकासवाद) से भी बहुत सहायता मिली है। इस सिद्धान्त के अधिक प्रचार का श्रेय ल्वायड मार्गन और अलक्जेण्डर को है। यह जगत् विकास का परिणाम है। जड वस्तुओं का विकास होते-होते एक ऐसी अवस्था आ जाती है, जब जीवन का प्रादुर्भाव हो जाता है। जीवन विकसित होते-होते एक ऐसी स्थिति आती है, जब चैतन्य स्फुटित हो जाता है। इसी तरह कालक्रम से विचार या चिन्तन का आविर्भाव होता है। इस तरह जड (Matter), जीवन (Life), चैतन्य (Consciousness) और विचार (Thought)—ये सब विकास-पथ में मील के पत्थर हैं। इसी प्रकार, विकास का क्रम आगे बढ़ता जाता है और नये-नये गुणों का प्रादुर्भाव होता जाता है। ल्वायड मार्गन Emergent Evolution में और अलक्जेण्डर के Space, Time & Deity (दिक्, काल और ईश्वर) में जगत् के विकास की सविस्तर व्याख्या की गई है।

हेगैल के दर्शन के विरुद्ध वर्तमान युग में जो विचारधाराएँ उठी हैं, उनमें एक महत्त्वपूर्ण धारा है, बुद्धिवाद का विरोध (Anti-Intellectualism)। हेगैल इस जगत् को बुद्धि का विकासमात्र समझते थे। उनका कथन था—The Real is the Rational (जो वास्तविक है, वह विचारपूर्ण है)। केवल चिन्तन के द्वारा हम विश्वप्रक्रिया के अतीत और भविष्य—दोनों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं; ऐसी उनकी धारणा थी। हेगैल का यह घोर बुद्धिवाद बहुत-से आधुनिक विचारकों को मान्य नहीं है। स्वयं उनके अनुयायियों ने भी इसका विरोध किया है। नव्य अध्यात्मवाद के सबसे बड़े पोषक ब्रैडले साहब ने भी चिन्तन-क्रिया की आलोचना करते हुए दिखलाया है कि बुद्धि के द्वारा हम असली तत्त्व को नहीं पकड़ सकते। तत्त्व या परमार्थ की उपलब्धि अपरोक्ष आन्तरिक अनुभूति (Intuition) से ही सम्भव है।

आधुनिक काल में जिन विचारकों ने बुद्धिवाद का खण्डन कर दार्शनिक विचारधारा को एक नई दिशा में प्रगति दी है, उनमें फ्रेंच दार्शनिक हेनरी बर्गसाँ का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उनके अनुसार यह जगत् निरन्तर प्रवाह-रूप है। सृष्टि का असली तत्त्व है जीवनी शक्ति (Elan vital), जो धारा की तरह निरन्तर भिन्न-भिन्न दिशाओं में बहती है। वही वनस्पति, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि के रूप में व्यक्त होती रहती है। यह अनवरत प्रवाह ही सत्य है। कोई वस्तु स्थायी या एकरूप नहीं रहती। सम्पूर्ण विश्व नदी की धारा के समान सन्तत परिवर्त्तनमय है। बर्गसाँ प्राचीन ग्रीक दार्शनिक हिरेक्लिटस के आधुनिक संस्करण हैं। उनका मत बौद्धों के क्षणभंगवाद की याद दिलाता है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

बर्गसाँ का कथन है कि बुद्धि के द्वारा हम प्रवाहशील जगत् का तत्त्व नहीं समझ सकते। बुद्धि का स्वभाव है, स्थिर मूर्त वस्तु का विश्लेषण कर उसे खण्ड-खण्ड कर समझना। इसलिए प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील चेतन तत्त्व को वह समग्र रूप में ग्रहण नहीं कर सकती। उसका ज्ञान बुद्धि (Reason) के द्वारा नहीं, किन्तु अनुभूति (Intuition) के द्वारा सम्भव है। प्रत्यक्ष अनुभूति के द्वारा ही हम अपने निरन्तर परिवर्त्तनशील अन्तःस्थल में प्रवेश करते हैं। जो आन्तरिक तत्त्व है, वही बाह्य तत्त्व है। अतएव, तत्त्वज्ञान अनुभूति से प्राप्त हो सकता है, न कि बुद्धि से।

बर्गसाँ की मुख्य कृतियाँ ये हैं—Creative Evolution (सर्जनात्मक विकास), Matter and Memory (जड पदार्थ एवं स्मृति), Time & Free Will (काल और इच्छा-स्वातन्त्र्य), Mind Energy (मनःशक्ति)।

आधुनिक युग की प्रमुख विचारधाराओं में Pragmatism (व्यवहारवाद) का भी विशिष्ट स्थान है। इस धारा के मुख्य प्रवर्त्तक हैं जेम्स, शिलर और ड्यूई। ये भी हेगेलीय बुद्धिवाद के विरोधी (Anti-Intellectualist) हैं। इनका मत है कि हमारे जीवन में इच्छाशक्ति ही प्रधान है; बुद्धि उसकी अनुचरी-मात्र है। ज्ञान की उपयोगिता इसी में है कि वह हमारे प्रयोजन की सिद्धि में सहायक होता है। कोई सत्य निरपेक्ष नहीं होता। सत्य की कसौटी है, व्यावहारिक सफलता। जिस सिद्धान्त को मानने या न मानने से हमारे व्यवहार में कोई अन्तर नहीं पड़ता, उसका हमारे जीवन में कोई मूल्य नहीं है। वह हमारे लिए न सत्य है, न मिथ्या; वह निरर्थक है। जिस धारणा से हमें अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति होती है, वही हमारे लिए सत्य है। अतः, सत्य या ज्ञान का मानदण्ड है, व्यावहारिक उपयोगिता। इस व्यवहारवादी प्रवृत्ति ने दर्शन के क्षेत्र में एक नया दृष्टिकोण उपस्थित किया है और चिन्तन की धारा को एक नई दिशा प्रदान कर बहुत-से सनातनी विचारों की जड हिला दी है। इस सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रन्थ ये हैं—१. जेम्सकृत Pragmatism (व्यवहारवाद), The Will to Believe (विश्वासेच्छा), Meaning of Truth (सत्य का अर्थ), Varieties of Religious Experience (धार्मिक अनुभव के प्रकार)। २. शिलर कृत Humanism (मानववाद), Formal Logic (आकारिक तर्कशास्त्र), Logic for Use (व्यावहारिक तर्कशास्त्र), Must Philosophers Disagree (क्या दार्शनिकों में मतभेद होना आवश्यक है ?)। ३. ड्यूई-कृत Studies in Logical Theory (तार्किक सिद्धान्त का अध्ययन), Essays in Experimental Logic (परीक्षणात्मक तर्कशास्त्र पर निबन्ध), How We Think (हम कैसे सोचते हैं), The Quest for Certainty (निश्चितता की खोज)।

आधुनिक युग की जिन विचारधाराओं ने सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन को प्रभावित किया है, उनमें मार्क्सवाद शीर्षस्थानीय है। यह भी हेगेल के दर्शन की प्रतिक्रिया के रूप में अवतीर्ण हुआ है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

कार्ल मार्क्स ने हेगेल के द्वन्द्वात्मक नियम (Dialectic) को आध्यात्मिक जगत् से नीचे उतारकर भौतिक जगत् पर लागू किया है। इसलिए, वे अपने दर्शन को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) कहते हैं : 'हेगेल सिर के बल खड़े थे, मार्क्स ने उन्हें पैरों पर खड़ा किया।'

जहाँ हेगेल आत्मवाद को मूलतत्त्व मानते हैं, वहाँ मार्क्स प्रकृतितत्त्व को मूलतत्त्व मानते हैं। हेगेल के अनुसार वस्तु-जगत् विचारतत्त्व का बाह्य रूप है। मार्क्स के अनुसार विचार-जगत् वस्तु-जगत् का प्रतिबिम्बमात्र है। हमारे चिन्तन की रूपरेखा बाह्य परिस्थितियों पर आधारित होती है। भौगोलिक स्थितियों का सामाजिक जीवन पर प्रभाव पड़ता है और सामाजिक भित्ति पर नैतिक, धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्त बनते हैं। अतएव, आध्यात्मिक विचारों का मूलस्रोत है भौतिक व्यापार। जीवन-यापन के साधनों की उत्पादन-विधि एवं वितरण-प्रणाली पर तत्कालीन सभ्यता निर्भर करती है। जिस प्रकार आर्थिक संगठन का ढाँचा बदलता जाता है, उसी प्रकार सांस्कृतिक जीवन का रूप भी परिवर्त्तित होता जाता है।

मार्क्स के अनुसार आदिम युग में उत्पादन के साधनों पर किसी का ऐकाधिपत्य नहीं था। अर्थात्, भूमि आदि पर किसी खास व्यक्ति या वर्ग का अधिकार नहीं था। लोग वन्य पशुओं की तरह शिकार के द्वारा उदरपूर्त्ति कर लेते थे। उस समय वर्गभेद (Class-distinction) या शोषण (Exploitation) नहीं था। कालक्रम से दास-प्रथा, सामन्तशाही, पूँजीवाद आदि भिन्न-भिन्न व्यवस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ।

मार्क्स के अनुसार मनुष्य-जाति का इतिहास मुख्यतः वर्गयुद्धों (Class-wars) का इतिहास है। वर्ग का अर्थ है मनुष्यों का वह दल, जिसके आर्थिक हित समान हों। जैसे, पूँजीपतियों का एक वर्ग है, श्रमिकों का दूसरा वर्ग है। प्रायः प्रत्येक युग में दो विरुद्धकोटिक वर्ग रहे हैं—सम्पन्न (Haves) और हीन (Have-nots)। सम्पन्न शोषक होते हैं और हीन शोषित। दोनों वर्षों का यह संघर्ष चिरन्तन है। इस तरह के संघर्षों का अन्त समाजवादी व्यवस्था से ही हो सकती है। मार्क्स का आदर्श है वर्ग-विहीन समाज (Classless Society), जिसमें न कोई शोषक हो, न कोई शोषित। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए वह क्रान्ति को आवश्यक समझते हैं। जब कोई आर्थिक व्यवस्था जीर्ण होकर प्रगति के पथ में बाधक हो जाती है, तब उसके विरुद्ध समाज में क्रान्ति पैदा होती है। इस तरह क्रान्ति प्रगति की सीढ़ी है।

मार्क्स का दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहा जाता है। द्वन्द्वात्मक इसलिए कि वह हेगेल की तरह दो विरोधी तत्त्वों के समन्वय से विकास मानते हैं। विकास का क्रम सरल रेखा में नहीं चलता। उसकी विधि कुछ यों है। 'क' का विरोधी तत्त्व है 'ख'। उनका समन्वय 'ग' में होता है। यहाँ 'क' पक्ष (Thesis) है; 'ख' प्रतिपक्ष (Antithesis) है, 'ग' सन्तुलन (Synthesis) है। परन्तु यह 'ग' भी स्थिर नहीं रहता। उसका प्रतिपक्ष 'घ' होता है। फिर, दोनों का सन्तुलन 'ङ' में होता है। इसी प्रकार, विकास का क्रम आगे बढ़ता जाता है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

मार्क्स-दर्शन भौतिकवाद है; क्योंकि वह इस जगत् को भौतिक तत्त्वों का विकास मानता है। मार्क्स के अनुसार सृष्टि का कोई कर्त्ता या नियन्ता नहीं है। 'ईश्वर हमारे मस्तिष्क की उपज है। धार्मिक सिद्धान्त सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार बनते हैं। सभ्यता और संस्कृतिक का रूप आर्थिक अवस्था पर निर्भर है। मार्क्सवाद बहुत अंशों में चार्वाक-दर्शन का अभिनव संस्करण है।

मार्क्स ने अपने Poverty of Philosophy (दर्शन का दारिद्र्य) और Germal Ideology (जर्मल सिद्धान्तावली) नामक ग्रन्थों में परम्परागत दर्शन का खण्डन किया है। उनका कहना है कि अभी तक दार्शनिकों के सामने यही समस्या रही है कि जगत् को समझा कैसे जाय, परन्तु असली समस्या यह है कि इस जगत् को बदला कैसे जाय।

आजकल मार्क्सवाद पर हिन्दी में भी काफी पुस्तकें लिखी जा रही हैं। जिन पाठकों को अँगरेजी-माध्यम से इस साहित्य का अध्ययन करना हो, उन्हें निम्नांकित पुस्तकों से सहायता मिल सकती है—१. मार्क्सकृत Capital (पूँजी), २. Text-book of Marxist Philosophy (मार्क्सवाद की पोथी) ३. The Manifesto of the Communist Party (साम्यवादी दल का घोषणा-पत्र), ४. लेनिन-कृत The Teachings of Karl Marx (कार्लमार्क्स के उपदेश), ५. Marx and Engels (मार्क्स और एंजेल्स के सिद्धान्त)।

आजकल बौद्धिक क्षेत्र में जो अति आधुनिक धाराएँ चल पड़ी हैं, उनमें दो प्रमुख हैं—१. Logical Positivism (तार्किक सापेक्षवाद) और २. Existentialism (अस्तित्ववाद)।

तार्किक सापेक्षवाद का सिद्धान्त है कि भाषा का तार्किक विश्लेषण ही दर्शन-शास्त्र का मुख्य कर्म होना चाहिए। अभी तक ईश्वर, ब्रह्म आदि को लेकर जो झगड़े चले हैं, वे कोरे शाब्दिक विवाद हैं, और प्रश्नों का उचित विश्लेषण नहीं कर सकने के कारण ही हम भूलभुलैया में पड़ जाते हैं। किसी प्रश्न पर विचार करते समय हमें उसका अर्थ अच्छी तरह स्पष्ट कर लेना चाहिए। जिस वाक्य में कोई ऐसा पद या पदांश हो, जो यथार्थ वस्तुस्थिति का प्रतिरूप नहीं हो, वह वाक्य निरर्थक है। जो प्रमाणीकरण की कसौटी पर खरा उतरे, वही वाक्य सार्थक कहला सकता है। इस मानदण्ड से दर्शन के बहुतेरे प्रश्न निरर्थक सिद्ध हो जाते हैं। अतः, उनको लेकर विवाद करना ही व्यर्थ है।

यह विचारधारा बहुत कुछ कामटे के Positivism (यथार्थवाद) और मूर की तर्कशैली से प्रभावित है। इंगलैण्ड में ऐयर साहब इसके प्रधान समर्थक हैं। उनका Language, Truth and Logic (भाषा, सत्य और तर्कविज्ञान) इस विषय को समझने के लिए उपादेय पुस्तक है। आस्ट्रिया के विटगेंस्टाइन साहब का Tractatus Logico-Philosophicus (तर्क-दर्शन-विवेचन) इस सम्प्रदाय का प्रामाणिक ग्रन्थ है। अमेरिका में मौरिस साहब इस विचारधारा के मुख्य प्रचारक हैं। उनका Logical

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

Positivism, Pragmatism and Scientific Empericism (तार्किक सापेक्षवाद, व्यवहारवाद एवं वैज्ञानिक अनुभववाद) महत्त्वपूर्ण समीक्षात्मक ग्रन्थ है।

आजकल पाश्चात्य विश्वविद्यालयों में तर्किक सापेक्षवाद को लेकर खूब खण्डन-मण्डन चलता है। वैज्ञानिक युग में इस तरह के वाद का बोलबाला होना स्वाभाविक ही है। बहुत-से चिन्तक सामूहिक रूप से अध्ययन-केन्द्र (Study circle) बनाकर इस विषय पर विचार-विमर्श कर रहे हैं कि दार्शनिक प्रश्नों में कौन-कौन अर्थहीन होने के कारण त्याज्य हैं। इस सम्बन्ध में अमेरिका से प्रकाशित International Encyclopaedia of Unified Science (वैज्ञानिक एकीकरण) का अन्तर-राष्ट्रीय विश्वकोश) द्रष्टव्य है।

आजकल की दूसरी धारा जो क्रमशः जोर पकड़ रही है, वह Existentialism (अस्तित्ववाद) के नाम से प्रचलित हो रही है। इस नये सम्प्रदाय की विचारधारा को समझने के लिए निम्नांकित विचारकों की पुस्तकें पढ़नी चाहिए— १. हेडेगर—Being and Time (सत्ता और काल), २. जेस्पर्स—Man in the Modern World (आधुनिक जगत् का मानव), ३. कर्कगार्ड-Either-or (या-अथवा), ४. एमेन्वेल मुनीर—Existentialist Phliosophies (अस्तित्ववादी दर्शन)।

संक्षेप में, इस सम्प्रदाय का यह मत है कि दार्शनिकों को Essence (तत्त्व) के चक्कर में नहीं पड़कर Existence (अस्तित्व) पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए और अस्तित्वरहित तत्त्वों का विश्लेषण छोड़कर मानव के अस्तित्व का विवेचन करना चाहिए।

इस प्रकार, नई-नई धाराएं आजकल प्रकट हो रही हैं, जिनकी रूपरेखा अभी तक पुष्ट नहीं हो पाई है। भविष्य का इतिहास उन्हें अंकित करेगा।

उपर्युक्त दिग्दर्शन बहुत ही अपर्याप्त है। सविस्तर वर्णन करने से एक अलग ग्रन्थ तैयार हो सकता है। फिर भी, 'यूरोपीय दर्शन' की कड़ियाँ जोड़ने के लिए ये दो शब्द जरूरी थे। जिनको वर्तमान विचारधाराओं का विस्तृत परिचय प्राप्त करना हो, वे आचार्य डॉ० धीरेन्द्रमोहन दत्त के Contemporary Philosophy (सम-सामयिक दर्शन) नामक नव प्रकाशित ग्रन्थ से लाभ उठा सकते हैं।

आशा है, पाठकगण, पं० रामावतार शर्मा की इस प्राचीन कृति का समुचित समादर करेंगे।

१७।११।'५२। —हरिमोहन झा

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

यूरोपीय दर्शन

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रस्तावना

यूरोपीय दर्शन की उत्पत्ति ग्रीस से मानी जाती है। यद्यपि दर्शन आदि के तत्त्व ग्रीस देश में पहले-पहल ईजिप्ट से आये थे और सिकन्दर आदि के समय में ग्रीस का भारत से भी सम्बन्ध हुआ था, तथापि यहाँ के दार्शनिकों ने अपनी ही स्वतन्त्र बुद्धि से नवीन तर्कों के द्वारा अपना दर्शन बढ़ाया। इसलिए इनके दर्शन को स्वतन्त्र ही समझना चाहिए।

जब मनुष्य संसार के दृश्यों को देखते-देखते उनके कारणों को तर्क के द्वारा निश्चय करने का प्रयत्न करने लगते हैं, तब दर्शन का आरम्भ होता है। प्रायः पुराण के समय के अनन्तर सब ही देशों में दर्शन का आविर्भाव होता है। पहले अपने ही सदृश शरीर इन्द्रिय, गुण-दोष आदि से युक्त देव भूत प्रेत आदि से मनुष्य संसार की स्थिति मानते हैं। वैसी अवस्था में पौराणिक कथाओं से सन्तोष हो जाता है। अनन्तर इन कथाओं से असन्तुष्ट होकर तर्क की सहायता से कथाओं के प्राकृतिक अर्थ निकालकर मुक्ति से जब मनुष्य संसार की उत्पत्ति-स्थिति आदि की कल्पना करने लगते हैं, तब दर्शन की अवस्था आती है।

पहले-पहल यूरोप के दार्शनिकों को, जो ग्रीस में हुए, जड़-चेतन का भेद नहीं था और न इस भेद की शंका ही उठी थी। चेतना-शक्ति इनको सभी वस्तु में मिली हुई जान पड़ती थी। बहुत दिनों तक यही दर्शन का मुख्य प्रश्न था कि वह कौन-सा प्रथम द्रव्य था, जिससे यह संसार हुआ। अन्न से मनुष्य आदि जन्तु, मिट्टी से अन्न, जल से बैठते-बैठते मिट्टी, और गरमी से पसीना आदि जल होता है। ऐसी-ऐसी बातों को देखकर प्राचीन दार्शनिकों में से किसी ने जल को, किसी ने आग को, किसी ने वायु को और किसी ने एक अव्यक्त द्रव्य को संसार का प्रथम उपादान माना था। उस जल, आग आदि से स्वयं संसार हुआ; क्योंकि उसमें जीवशक्ति मिली हुई थी। इसलिए आत्मा, ईश्वर आदि का प्रश्न ही नहीं उठा और किसने पहले जल आदि से सृष्टि बनाई, यह शंका भी नहीं हुई।

इस अन्वेषण के बाद यह शंका हुई कि संसार जैसा बराबर बदलता हुआ देख पड़ता है, वैसा है, या एकरूप है और इन्द्रियों से सम्बन्ध होने से इसमें परिवर्तन होता हुआ जान पड़ता है। एक पक्षवाले दार्शनिक संसार को केवल भावस्वरूप मानते थे और दूसरे पक्षवाले इसमें प्रतिक्षण परिवर्तन* मानते थे। अन्ततः, इन बातों से असन्तुष्ट होकर कितने दार्शनिकों ने चार-पांच तत्त्व (पृथ्वी, जल, तेज, वायु) माने; क्योंकि एक पदार्थ से सब पदार्थों का बनाना उन्हें असम्भव जान पड़ा। दूसरे दार्शनिकों ने परमाणुओं से संसार का निर्माण माना। इधर मूर्त्त वस्तुओं के निर्माण के लिए जब इन मतों का प्रचार हो रहा था,

*परिवर्त्तन माननेवालों ने नियतिकृत सब परिवर्त्तन माना है। इसलिए नियति का ज्ञान मनुष्यों में इन लोगों ने जमाया, जो कि अभी तक मनुष्यों के चित्त में बैठा है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

उसी समय कुछ दार्शनिकों ने आत्मा को अमर और एक शरीर से दूसरे शरीर को ग्रहण करनेवाली माना, जिससे आत्मा और शरीर का भेद धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगा।

इस अवस्था में एक दार्शनिक ने तत्त्वों को चार या पांच मानना असंगत समझकर प्रत्येक विशेष पदार्थ के लिए एक-एक पृथक् तत्त्व माना और इन तत्त्वों में संयोग-वियोग आदि की नियामिका शक्ति न देखकर आत्मा (Nous) को नियामक माना।

इस प्रकार की सृष्टि आदि के विषय में कल्पनाओं की छूट व्यर्थ समझकर, 'मनुष्य का ज्ञान वस्तुतः ठीक है या भ्रम है, मनुष्य का कर्त्तव्य क्या होना चाहिए, मनुष्य का ज्ञान किन विषयों तक पहुँच सकता है' इत्यादि विचारों को तार्किक लोगों ने आरम्भ किया और यह ठहराया कि वास्तव तत्त्व क्या है, इसका मनुष्य नहीं पता लगा सकता। जिस मनुष्य को जो वस्तु जैसी मालूम पड़े वैसी ठीक है। सृष्टि आदि विषयों के विचार में व्यर्थ तर्क छोड़कर शान्ति और सुख से जीवन बिताना ही मनुष्य के जन्म का उद्देश्य है।

इस रीति से आत्मा और अनात्मा का भेद जब कुछ-कुछ जान पड़ने लगा और अपने ज्ञान की स्वयं थोड़ी-बहुत परीक्षा मनुष्य करने लगे, तब कई बड़े-बड़े विचारक उत्पन्न हुए, जिनके स्वतन्त्र मत ग्रीस में और देशान्तरों में प्रचलित हुए। तार्किकों का खण्डन कर सब मनुष्यों में सामान्य जो वस्तु का ज्ञान, है वही पारमार्थिक ज्ञान है और पारमार्थिक ज्ञानवाले मनुष्य कभी अनर्थ नहीं कर सकते इत्यादि आवश्यक विषयों का प्रतिपादन एथेन्स के उपदेशक साक्रटीज ने किया और आचार-शास्त्र का वैज्ञानिक रीति से उपक्रम किया। उसके बाद चार मुख्य मत ग्रीस में हुए—१. प्लेटो का मत, २. अरिस्टाटल का मत, ३. स्टोइक का मत, ४. एपीक्यूरस का मत, पाँचवाँ मत संशयवादियों का मत है, जिसके माननेवाले कभी एक, कभी दूसरे मत के अवलम्बी होकर संशयवाद का प्रचार करते थे।

प्लेटो ने संविद्वाद चलाया, जिसके अनुसार बाह्य पदार्थ असत्य है। शुद्ध ज्ञानरूप सत्ता है। प्लेटो के अनुसारी संशयवाद में कुछ समय तक रहकर, ग्रीस के दर्शन के अन्तिम समयों में, समाधिवाद (Doctrine of ecstasy) के अवलम्बी हुए और योग से मनुष्य संसार से मुक्त होकर ईश्वरमय हो जा सकता है, यह विश्वास रखते थे। इस मत के साथ-ही-साथ चिरकाल तक और भी ऊपर कहे हुए मत चलते रहे, जिनका विवरण मूल ग्रन्थ में विशेषतः होगा।

ग्रीस में देश की अवनति के कारण शास्त्र का लोप होने पर रोम, अलेक्जेण्ड्रिया आदि नगरों में ग्रीस, रोम, अरब आदि के विद्वानों ने प्राचीन दर्शन का प्रचार सुरक्षित रखा।

जब खीष्ट मत का प्रचार बढ़ने लगा, उस समय प्रायः इस सम्प्रदाय के प्रचारकों में अन्य मतों के खण्डन और अपने मत की स्थापना के लिए दार्शनिक तर्कों की आवश्यकता पड़ी। ये धार्मिक दार्शनिक आगस्टिन, ऐन्सेल्म, टामस् आदि प्रायः अरिस्टाटल की बातों पर अधिक श्रद्धा रखते थे। कितने प्लेटो का अनुसरण करते थे; क्योंकि साक्रटीज, प्लेटो

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

और अरिस्टाटल के दर्शन की बहुत-सी बातें ख्रीष्ट मत से मिलती-जुलती हैं। इन धर्मवादियों का मुख्य उद्देश्य संशयवाद का खण्डन और संसार के नियामक सगुण ईश्वर का स्थापन कर भक्तिमार्ग का प्रचार करना था। मध्य समय में ग्रीस के मूल ग्रन्थ लुप्त हो गये थे। टीकाओं से ही उनके विषय विदित हो सकते थे।

पुनः जब इटली-प्रदेश में विद्या का उज्जीवन (Renaissance) हुआ और वहीं से देशान्तरों में भी विद्या का प्रचार होने लगा, तब ग्रीस के प्राचीन ग्रन्थ पुनः प्रकाशित हुए। कुछ दिन तक तो अरिस्टाटल आदि प्राचीन दार्शनिकों के ही अनुगामी लोग हुए। पर विज्ञान में कोपर्निकस, गेलोलियो आदि के भूभ्रमण, भूकेन्द्रक, ज्योतिर्गणित आदि विषयों के आविर्भाव होने से और बेकन आदि तार्किकों की नई परीक्षा-प्रधान वैज्ञानिक रीतियों के प्रचार होने से प्राचीन दर्शनों में श्रद्धा कम होती गई और डेकार्ट, लीब्निज आदि स्वतन्त्र दार्शनिक निकले। क्रम से मनोविज्ञान (Psychology) के ऊपर अधिक श्रद्धा होने लगी। अनुभव-और-परीक्षा (Observation and Experiment)–मुख्य-उपाय ज्ञान और विज्ञान दोनों की उन्नति के लिए आवश्यक समझे गये।

इंगलैण्ड में ह्यूम और फ्रांस में कौण्डियैक ने प्राचीन कल्पनाओं को सर्वथा निर्मूल प्रतिपादन कर मनुष्य के ज्ञान को सर्वथा अनुभवाधीन और, जगत् के मनुष्यज्ञानाधीन होने के कारण सम्पूर्ण जगत् ही को अनुभवाधीन प्रतिपादित किया। इन लोगों का मत अनुभववाद (Empiricism) कहा जाता है।

अन्ततः, गत शताब्दी में जर्मनी प्रदेश में काण्ट नामक महादार्शनिक हुआ, जिसने प्राचीन कल्पनाओं के उपदेशवाद (Dogmatism) और ह्यूम आदि के अनुभववाद (Empiricism) दोनों को अकाण्डताण्डव बतलाया और यह दिखलाया कि पहले मन की शक्तियों की परीक्षा करके तब मनुष्य को दार्शनिक ज्ञान का प्रयत्न करना चहिए। इसलिए काण्ट के मत को परीक्षावाद (Criticism) कहते हैं।

काण्ट के बाद यूरोप में तीन प्रकार के दार्शनिक हुए—१. संविद्वादी—फिक्ट, हेगेल आदि, २. वस्तुवादी—रीड के अनुगामी, ३. नये अनुभववादी—मिल, बेने आदि।

दर्शन की शाखाओं का वृत्तान्त

ऐतिहासिक क्रम से दर्शन की इतनी शाखाएँ हैं—

१. साक्रटीज के पहले का दर्शन। २. साक्रटीज, प्लैटो और अरिस्टाटल के दर्शन। ३. ग्रीस के अन्तिम दर्शन। ४. ख्रीष्टानुयायियों के दर्शन। ५. स्कूल का दर्शन। ६. नये दर्शन का आरम्भ। ७. काण्ट का परीक्षावाद। ८. अनुभववाद। ९. काण्ट के बाद का दर्शन।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

...के भेद से दर्शन के इतने भेद हैं—

१. सामान्य दर्शन (Metaphysics)। २. ज्ञानपरीक्षा (Epistemology)
३. सत्ताशास्त्र (Ontology)। ४. दर्शन के सहकारी शास्त्र—मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, आचारशास्त्र, अर्थशास्त्र, रसशास्त्र इत्यादि।

सत्ताशास्त्र के अवान्तर भेद—

१. अद्वैतवाद
२. द्वैतवाद
३. बहुत्ववाद

अथवा

१. बाह्यवस्तुवाद
२. आत्मवाद
३. क्षणिकदृश्यवाद

ज्ञानशास्त्र के अवान्तर भेद—

१. बुद्धिवाद
२. प्रत्यक्षवाद

अथवा

१. उपदेशवाद।
२. संशयवाद।
३. परीक्षावाद।

इन भेदों के अतिरिक्त और भी कितने प्रकार से दर्शन के भेद निकाले गये हैं, जो दर्शन के इतिहास के ज्ञान से स्वयं स्पष्ट होंगे।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्राचीन दर्शन

प्रथम अध्याय

थेलीज, ऐनेक्सिमैण्डर, ऐनेक्सिमेनीज—ग्रीस के पूरब, उसी देश की अयोनिया (यवन) नाम की बस्ती में आज से ढाई हजार बरस पहले ये तीन दार्शनिक हुए। इनके अनुयायी और भी बहुत से दार्शनिक हुए, जिनमें हिप्पो इनसे सौ बरस पीछे और डायोजेनीज़ दो सौ बरस पीछे हुआ। इन दार्शनिकों का यही अन्वेषण था कि संसार किस मूल द्रव्य (Arche) से उत्पन्न हुआ है। क्योंकि जीवशक्ति सभी द्रव्य में ये लोग मिश्रित समझते थे। इसलिए आत्मा, ईश्वर आदि के विषय में इन्हें कोई शंका नहीं उत्पन्न हुई और न निर्जीव से भिन्न जीव कोई वस्तु इनके यहाँ थी। थेलीज़ के मत से जल, ऐनेक्सिमैण्डर के मत से एक अनियत द्रव्य (Apeiron) और ऐनेक्सिमेनीज़ के मत से वायु वह मूल-द्रव्य है, जिससे आप-ही-आप सम्पूर्ण संसार हुआ है।

थेलीज इन दार्शनिकों में सबसे प्राचीन था। यह एक बड़ा ज्योतिषी भी था। खीष्ट वर्षारम्भ से ५८५ बरस पहले जो सूर्यग्रहण हुआ था, उसे इसने पहले ही से बता रक्खा था। ग्रीस में सात बुद्धिमान् प्रसिद्ध थे, जिनमें से एक यह भी था। इसके मत से, पानी से सब वस्तु निकली है। किस प्रकार पानी से सब वस्तु बनी है, यह थेलीज ने नहीं बताया है।

थेलीज का सहवासी ऐनेक्सिमैण्डर था। यह ज्योतिष और भूगोल-विद्या में निपुण था। इसने अपने गद्य के ग्रन्थ में यह सिद्ध किया है कि सबसे पहले एक अपरिच्छिन्न परिमाण का द्रव्य था, जिससे संसार निकला है और उसी में संसार का प्रलय भी होता है। यह द्रव्य सब विशेषों से रहित था। ऐनेक्सिमैण्डर को यह भ्रम था कि यह द्रव्य परिमाण में अपरिच्छिन्न, अर्थात् बे-ठिकाने होना चाहिए, नहीं तो सृष्टि होते-होते यह समाप्त हो जाता। यह अपरिच्छिन्न प्रथम द्रव्य किसी से नहीं निकला है, यह अनश्वर है और इसकी गति भी शाश्वत है। इसीकी गति से सब विशेष उत्पन्न हुए हैं। पहले शीत-उष्ण का भेद निकला और इसी क्रम से पृथ्वी, वायु, अग्नि आदि की उत्पत्ति हुई। पृथ्वी पहले द्रव-अवस्था में थी। उसकी अवस्था क्रम से परिवर्तित हुई है। सूख जाने पर जीव प्रकट हुए हैं।

ऐनेक्सिमेनीज, ऐनेक्सिमैण्डर का शिष्य था। इसके ग्रन्थ का एक खण्ड अभी तक रक्षित है। वायु इसके मत से प्रथम द्रव्य है। वायु में घनीभाव और शैथिल्य, दो गुण हैं।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

घनीभाव शीतलता से और शैथिल्य उष्णता से होता है। वायु के शैत्य से पृथ्वी और उष्णता से अग्नि, तारा आदि हुए हैं।

हिप्पो, इडीयस, डीयोजेनीज—इन दार्शनिकों के बाद दो सौ बरस तक इनके अनुयायी हुए, जिनमें से मुख्य हिप्पो, इडीयस और डीयोजेनीज थे। हिप्पो थेलीज का अनुगामी था और जल को मूल तत्त्व मानता था। आर्द्रता से अग्नि और अग्नि और जल के संघर्ष से संसार हुआ। इडीयस ऐनेक्सिमेनीज का अनुसारी होकर वायु को मूलतत्त्व मानता था। एपोलेनिया-निवासी डीयोजेनीज भी वायु ही को मूलतत्त्व मानता था। ऐनेक्सागोरस नाम का दार्शनिक अनेक तत्त्व मानता था और इन तत्त्वों को मिलाकर अपनी रुचि से संसार बनानेवाली आत्मा भी मानता था। आगे इस दार्शनिक का मत विशेष रूप से लिखा जायगा। इसके प्रतिकूल, डीयोजेनीज ने ऐनेक्सिमेनीज का मत पुनः स्थापन करना चाहा। अनेक भिन्न तत्त्वों का परस्पर मिलना असम्भव है और वायु ही से द्रव्यों में मादकता-शक्ति सड़ जाने पर आती है। वायु ही जीवों में प्राणरूप से कार्य आदि की शक्ति देती है। ऐसे हेतुओं से डीयोजेनीज ने वायु का मूल तत्त्व होना स्थापित किया।

पीथागोरस और उसके अनुयायी—ऐनेक्सिमेनीज के समय में सेमस् द्वीप में निसार्कस् का पुत्र पीथागोरस हुआ। जन्मभूमि से अनेक स्थानों में घूमते-घूमते इटली के क्रोटोना नाम के स्थान में इसने निवास किया। पीथागोरस ने स्वयं कौन-सा मत चलाया था, यह ज्ञात नहीं है। इसके अनुयायी फीलोलाउस आदि की उक्तियों से इसका मत जाना जाता है। संख्या के अनुसार सब वस्तु संसार में बनी है और संख्या ही वस्तुओं का सार है। कोई संख्या सम है, कोई विषम है। सम संख्या के दो विभाग हो सकते हैं, विषम के नहीं। इसलिए सम का रूप अनियत है और विषम का नियत। ग्रीस के लोग नियत रूप की वस्तुओं को अनियत रूप की वस्तुओं की अपेक्षा पूर्ण मानते थे और सम संख्या की अपेक्षा विषम संख्या उत्तम मानी गई। इस प्रकार, पीथागोरस के अनुयायियों के अनुसार सम-विषम, नियत-अनियत, एक-बहुत, दक्षिण-वाम, स्त्री-पुरुष, गति-स्थिरता, सीधा-टेढ़ा, प्रकाश-अन्धकार, अच्छा-बुरा, लम्बा-चौपहल—इन दस भेदों से सम्पूर्ण संसार व्याप्त है। इन भेदों का मेल स्वरसंयोग (Harmony) के अनुसार होता है। पीथागोरस के अनुयायियों के मत से आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में जा सकती है और दस हजार बरस के बाद सम्पूर्ण संसार फिर जैसा पहले हुआ था, वैसा ही होता है। जीव जो कार्य यहाँ करते हैं, उनका फल उन्हें भविष्य में मिलता है।

जेनाफेनीज, पार्मेनिडीज, जीनो, मेलिसस—पीथागोरस के समय में यवन देश (Ionia) से आकर जेनोफेनीज ने इटली में वास किया। इसको लोग ऐनेक्सिमैण्डर का शिष्य कहते हैं। ग्रीस देश में मनुष्यों के सदृश आकार और आचार देवताओं के समझे जाते थे। वैसे देव बहुत-से थे। इनमें व्यभिचार आदि का भी प्रचार माना जाता था। जेनोफेनिज को इन वर्णनों से बड़ी घृणा हुई। उसने यह दिखाया कि जो आचार मनुष्यों में भी अनुचित समझा जाता है, देवताओं में उस व्यभिचार, चोरी आदि का आचार होना

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

अत्यन्त अनुचित है। फिर सर्वोत्तम तो कोई एक ही व्यक्ति हो सकता है, न कि अनेक। इसलिए देवता या ईश्वर वस्तुतः एक ही है, इसका आदि-अन्त नहीं है। सब संसार इसीका स्वरूप है।

जेनोफेनीज़ का शिष्य पार्मेनिडीज़ हुआ। इसके मत से केवल ईश्वर ही नहीं, किन्तु वस्तुमात्र एक है। सब संसार सत्स्वरूप है। असत् की स्थिति नहीं हो सकती। इसलिए, अभाव पदार्थ पार्मेनिडीज़ नहीं मानता था। सत् का आदि या अन्त नहीं है; क्योंकि असत् से सत् होना या सत् से असत् हो जाना दोनों ही अचिन्त्य हैं। सत् एक और अविभक्त है; क्योंकि इसका विभाजन केवल असत् हो सकता है; पर असत् तो है ही नहीं। सत् अपने ही में पूर्ण है। इसमें विकार और परिवर्तन नहीं हो सकता। ज्ञान असत् का नहीं हो सकता, किन्तु सत् ही का, इसलिए ज्ञान सत्स्वरूप ही है। विवेक (Logos) से सत्तामात्र की स्थिति ज्ञात होती है और यही वास्तव ज्ञान है। इन्द्रियों से वस्तुएँ अनेक और विकारी देख पड़ती हैं, इसलिए इन्द्रियजन्य ज्ञान केवल भ्रम है। वस्तुतः, सत् ही है, पर मनुष्य अपने मन से असत् की भी स्थिति समझ लेता है; इस प्रकार सत् और असत्, अर्थात् प्रकाश और तम दो पदार्थ हुए, जिनसे सब जगत् बना है। इनमें प्रकाश का अंश अधिक होने से मनुष्य को ज्ञान होता है और तम की प्रबलता होने से अज्ञान होता है।

पार्मेनिडीज़ का मुख्य शिष्य ज़ेनो था, जो यूरोप में तर्कशास्त्र (Dialectics) का प्रथम प्रचारक माना जाता है। अपने तर्क से इसने मुख्यतः यह सिद्ध किया है कि वस्तुओं में गति और बहुत्व भ्रममूलक है। यदि वस्तु अनेक है, तो संसार को अत्यन्त बड़ा और अत्यन्त छोटा होना चाहिए; क्योंकि प्रत्येक भाग के फिर भी अनेक भाग हो सकते हैं और विभाग का ठिकाना नहीं है, तो संसार अनन्त भागों से बना हुआ अत्यन्त सूक्ष्म होगा, इसलिए संसार बहुत छोटा है; क्योंकि ये सूक्ष्म भाग कितने ही मिलें, इनका परिमाण सूक्ष्म ही रहेगा। फिर यदि अनेक वस्तुएँ हैं, तो संख्या में वे नियत और अनियत दोनों ही होती हैं। वे संख्या में नियत हैं; क्योंकि जितनी वस्तुएँ संसार में हैं, उनसे अधिक तो कहीं हैं ही नहीं, पर अनियत भी इनकी संख्या है; क्योंकि दो वस्तुओं को पृथक् करने के लिए एक तृतीय वस्तु को बीच में आवश्यकता है और इस तृतीय वस्तु को और दो वस्तुओं से पृथक् करने के लिए एक चतुर्थ वस्तु की अपेक्षा है। तो इन वस्तुओं की संख्या का अन्त कैसे हो सकता है? योंही सब वस्तुएँ आकाश में हैं, तो आकाश के लिए भी दूसरे अवकाश की अपेक्षा है और इस अवकाश के रहने के लिए फिर किसी आधार की आवश्यकता होगी और कहीं विश्राम नहीं होगा। इस प्रकार के परस्पर व्याघात, अनवस्था आदि दोषों को देखकर 'वस्तुमात्र एक है, अनेक नहीं' ऐसा ही कहना उचित है। अब यदि यह विचारा जाय कि वस्तुओं में गति सम्भव है कि नहीं, तो गति मानने में ये विरोध पड़ते हैं—

(१) एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने में जानेवाला बाण आदि पहले जितना जाता है, उसका आधा अंश चलेगा, फिर इस आधे को समाप्त करने के लिए उसका भी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

आधा चलेगा; ऐसे ही, कहीं अन्त नहीं लगेगा और न लाखों बरस में भी जितना जाना है, उतना समाप्त होगा। (२) कछुवे के पीछे यदि खरहा चले, तो खरहा चाहे कितना ही शीघ्रगामी हो, कछुवे को पकड़ नहीं सकता; क्योंकि खरहा जबतक उस स्थान पर पहुंचेगा, जहाँ से कछुवा पहले चला, तबतक कछुवा कुछ थोड़ा आगे अवश्य बढ़ जायगा। (३) चलता हुआ बाण प्रतिक्षण किसी-न-किसी स्थान पर स्थिर है, इसलिए यदि पृथक्-पृथक् सब स्थानों में स्थिर रहा तो, चाहे कितना भी समय क्यों न बीते, बाण का चलना असम्भव है। (४) प्रत्येक वस्तु की गति स्थिर मनुष्य को जैसी विदित होती है, उससे अधिक शीघ्र उस वस्तु की ओर दौड़ते हुए मनुष्य को विदित होती है। ऐसे विरोधों के परिहार के लिए वस्तु को एक और गतिरहित, अर्थात् निर्विकार मानना उचित है। ज़ीनो ने इन हेतुओं को पार्मेनिडीज़ के एकसत्तावाद के समर्थन में लगाया, पर पीछे संशयवादियों ने अपना मत इन्हीं हेतुओं से प्रसिद्ध किया। ज़ीनो के समय ही में गोर्जियस् ने यह दिखाया कि केवल देश, काल, गति आदि का भेद ही असम्भव और विरोध से ग्रस्त है, ऐसा नहीं, किन्तु सता भी कोई वस्तु नहीं है और असद्वाद ही ठीक है; क्योंकि यदि सत्ता है, तो जैसा पार्मेनिडीज़ ने दिखलाया है, उसी रीति से सत्ता को अनादि-अनन्त, अर्थात् शाश्वत होना चाहिए। पर जो वस्तु अनन्त है, अर्थात्, जिसका देश और काल में कहीं विश्राम नहीं है, वह देश और काल में नहीं अँट सकती और जो वस्तु देश-काल में नहीं है, वह कहीं नहीं है, या, हो भी तो, हमलोग तो केवल देश और काल में जो वस्तु है, उसीको जान सकते हैं, इसलिए, देशकालातीत वस्तु कुछ है या नहीं, इसका ज्ञान ही हमें कैसे हो सकता है।

ज़ीनो के प्रायः साथ-ही-साथ मेलिसस् हुआ था। यह वीर और नीतिज्ञ था। पार्मेनिडीज़ के मत से संसार सत्स्वरूप है, इसका काल में आदि और अन्त नहीं है, पर मेलिसस् के मत से देश में भी संसार अपरिच्छिन्न है, केवल काल ही में नहीं। और सब बातों में प्रायः यह पार्मेनिडीज़ का अनुगामी था।

हेरैक्लीटस्, ऐम्पेडोक्लीज़, डीमोक्रीटस्, एनैक्सागोरस, प्रोटेगोरस— पार्मेनिडीज़ के समय के आस-पास पाँच बड़े दार्शनिक हुए। उनमें से चार, याने, हेरैक्लीटस्, एम्पेडोक्लीज, डीमोक्रीटस् और एनैक्सागोरस तो वैज्ञानिक थे और पाँचवाँ, अर्थात् प्रोटेगोरस संशयवादी था। इन पाँचों में पार्मेनिडीज़ को मिला दिया जाय, तो छः हुए। ये छः यूरोप के दर्शन के मूलकार हैं। जैसे भारत में दर्शन के छः सूत्रकार हुए थे और उन्हींका अनुसरण कर पीछे दार्शनिकों ने अनेक मतों का प्रचार किया, वैसे ही पार्मेनिडीज़ आदि छः दार्शनिकों का अवलम्बन कर समस्त यूरोप का दर्शन बढ़ा।

हेरैक्लीटस् एक उत्तम वंश का विद्वान् था। इसके लेख संक्षिप्त और कठिन होते थे। इसके मत से प्रकृति एक है, पर सदा परिणामिनी है। प्रतिक्षण वस्तुओं में परिणाम होता रहता है, इसलिए संसार का मूल कोई ऐसा द्रव्य होना चाहिए, जिसमें प्रतिक्षण परिणाम हो। हेरैक्लीटस् को, ऐसा प्रतिक्षणपरिणामी द्रव्य, अग्नि विदित हुआ। इससे इसने अग्नि

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

को जगत् का मूल माना है। यही अग्नि जीवों में प्राणरूप है। दैववश परस्पर विरुद्ध वस्तुएँ संसार में उत्पन्न होती रहती हैं। जैनों के सदृश, हेरैक्लीटस् समझता है कि प्रतिदिन नया सूर्य निकलता है, क्योंकि सूर्य की नौका में जो आग है, वह सन्ध्या को समुद्र के जल में बुझ जाती है और वह फिर, रात्रि को, जल के वाष्पों से उत्पन्न होकर प्रातःकाल में निकलती है। ऐसे ही संसार भी अग्नि से निकलता है और कल्पान्त में जलकर अग्नि में प्रवेश करेगा। मनुष्यों को जगत् में बहुत-सी वस्तुएँ स्थिर विदित होती हैं, पर यह ज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न भ्रम हैं। वस्तुतः, विवेक-दृष्टि से यही ज्ञात होता है कि दैव, याने, ईश्वर के नियम के अतिरिक्त और कुछ स्थिर नहीं है। मनुष्य को सन्तोषपूर्वक प्रकृति के अनिवार्य प्रवाह के साथ चलना उचित है; क्योंकि छटपटाने से कुछ फल नहीं है। हेरैक्लीटस् को जनता का मत, धर्म आदि के विषय में, बहुत ही नापसन्द था। यह मूर्त्तिपूजा और हिंसा-पूर्वक यज्ञ की बड़ी निन्दा किया करता था।

एम्पेडोक्लीज़् सुवक्ता और कार्य-शक्तिशाली पुरुष था। यह वैद्य, भविष्यद्वादी, धर्मोपदेशक आदि के अनेक कार्य करता था। इसके मत से संसार का आदि और अन्त नहीं है; सब जगत् चार तत्त्वों से उत्पन्न है। पृथ्वी, जल, तेज और वायु—ये तत्त्व गुणों से भिन्न हैं और प्रत्येक के विभाग हो सकते हैं। ये तत्त्व परस्पर ऐसे विभक्त हैं कि एक से दूसरा कभी नहीं हो सकता और दो या अधिक तत्त्व मिलकर द्रव्यान्तर भी नहीं बन सकते; केवल अनेक तत्त्वों के सूक्ष्म अंश मिल जाने से एक विलक्षण द्रव्य हो गया, ऐसा जान पड़ता है। वस्तुतः, सब तत्त्वों के अंश पृथक् ही रहते है। तत्त्वों के संयोग और वियोग के लिए संसार में दो शक्तियाँ हैं। एक का नाम प्रेम और दूसरी शक्ति का नाम द्रोह है। पहली शक्ति से तत्त्वों में आकर्षण होता है और दूसरी से तत्त्व एक दूसरे से हटते हैं। प्रेम के द्वारा धीरे-धीरे तत्त्वों के एकत्र होने से नये-नये रूप बने हैं और, पृथ्वी पर, पहले कुरूप बड़े-बड़े जन्तु थे। क्रम से उनके रूप अच्छे-से-अच्छे उत्पन्न हुए। इसीका नाम उत्क्रान्तिवाद (Evolution theory) है और डार्विन ने इसी वाद को वैज्ञानिक नियमों के अनुसार सिद्धान्तित किया है। समान से समान का ग्रहण होता है, यह एम्पेडोक्लीज़् का मत था। इसलिए, जिस इन्द्रिय में जिस तत्त्व का अंश अधिक है, वह उसी तत्त्व को ग्रहण करती है; जैसे, आँख में आग्नेय तत्त्व अधिक है, इससे आँख के द्वारा प्रभा का ग्रहण होता है। तत्त्वों के और इन्द्रियों के विषय में ऐम्पोडोक्लीज़् की बातें प्रायः वैशेषिक सूत्रकार कणाद से मिलती हैं, इसलिए इसको लोग पश्चिम का कणाद कहते हैं। पीथागोरस् के सदृश, जीव की अनेक जन्तुओं में गति यह भी मानता था।

प्रायः एम्पेडोक्लीज़् के साथ-ही-साथ ल्युकिपस् नाम का एक दार्शनिक हुआ था। इसका मत इसके विख्यात शिष्य डीमोक्लीटस् के लेखों से विदित होता है। ये दोनों गुरु और शिष्य परमाणुवादी थे। इनके मत से, भाव और अभाव दो पदार्थ हैं। भाव वह है, जिससे शून्य भरा हुआ है, अभाव वह है, जो शून्यरूप है। भाव अनेक परमाणुओं से बना है। सब वस्तुओं का विभाग करते-करते अन्त में हमलोग परमाणु तक पहुँचते हैं।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

परन्तु परमाणु का विभाग नहीं हो सकता। सब परमाणु गुण में और गुरुत्व में एक ही प्रकार के हैं। केवल आकार में एक परमाणु दूसरे परमाणु से भिन्न होता है। परमाणुओं में परस्पर आकर्षण होने से संसार उत्पन्न होता है, उन्हीं के विभाग से वस्तुओं का नाश होता है। परमाणुओं में गुरुत्व होने के कारण अनादि काल से वे आकाश में नीचे गिरते जाते हैं। जो हल्के हैं, वे धीरे-धीरे गिरते हैं जो और भारी हैं, वे शीघ्र गिरते हैं। अग्नि के चिकने और गोल परमाणुओं से मनुष्य की आत्मा बनी हुई है। ये आत्मा के परमाणु शरीर-भर में व्याप्त हैं। साँस बाहर निकलने से आत्मा के अंश बाहर निकल जाते हैं। पर इस प्रकार जो कमी होती है, उसकी पूर्ति साँस भीतर लेने से जो वायु-मण्डल के आग्नेय परमाणु भीतर पहुँचते रहते हैं, उनसे हो जाती है। इन्द्रियों से और वस्तुओं से कुछ परमाणु निकलकर बीच रास्ते में मिलते हैं, इसीसे जन्तुओं को वस्तुज्ञान होता है। जिस आकार के परमाणु जिस इन्द्रिय में हैं उस इन्द्रिय से उसी आकार के परमाणुओं से बनी हुई वस्तुओं का ग्रहण होता है। आप-ही-आप आनन्द से रहना मनुष्य के लिए परम सुख है और चिन्ता दुःख का मूल है। इसका क्या कारण है कि मनुष्य का सुख बाहरी विभव में नहीं, किन्तु चित्त की शान्ति और उसके सन्तोष में है, यह डीमोक्रीटस् ने नहीं दिखाया है। इस दार्शनिक के मत से वायुमण्डल में बड़े-बड़े अत्यन्त प्रबल अदृश्य भूत हैं, जो कभी-कभी स्वप्न आदि में मनुष्यों को देख पड़ते हैं।

ऊपर चार वैज्ञानिकों के नाम लिख आये हैं, उनमें से तीन का मत दिखाया गया। चौथा एनैक्सागोरस था, जिसने अपना धन आदि गँवाकर विज्ञान में अपने को लगाकर गणितशास्त्र में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। इस वैज्ञानिक ने ऐम्पेडोक्लीज़ और ल्यूकिपस् का यह मत स्वीकार किया है कि संसार का सर्वथा आरम्भ या अन्त अचिन्तनीय है, पर यद्यपि संसार की उत्पत्ति या उसके अन्त के लिए किसी और व्यक्ति की अपेक्षा नहीं है, तथापि इस संसार की जो अपूर्वगति और ऐसी सुन्दर रचना (Design) है, इसके लिए किसी सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमती सत् वस्तु की अवश्य अपेक्षा है। इस प्रकार, जैसे भारत में ब्रह्मसूत्रकार ने 'रचनानुपपत्तेश्चवनानुमानम्' इत्यादि शास्त्रार्थ से सांख्य मत का खण्डन कर ईश्वर का स्थापन किया, वैसे ही एनैक्सागोरस ने पहले-पहल यूरोप में ईश्वर का स्थापन किया। इसके पहले किसी को प्रायः ईश्वर की आवश्यकता ही नहीं जान पड़ी थी। एनैक्सागोरस ही के मत से संसार की रचना परमात्मा (Nous) से हुई। यह परमात्मा शुद्ध और सर्वशक्तिमान् हैं। सब वस्तुएँ पहले संकीर्ण थीं; आत्मा ने अपनी विवेक-शक्ति से इन वस्तुओं को अपने-अपने स्थान में लगाकर इस संसार की रचना की है। ऐम्पेडोक्लीज़ का चतुर्भूतवाद और ल्यूकिपस् का परमाणुवाद दोनों ही एनैक्सागोरस के मत से अशुद्ध हैं। वस्तुतः, संसार में अनेक सोना, चाँदी, हड्डी, मिट्टी आदि तत्त्व हैं। इन्हीं के छोटे-छोटे पुद्गलों (Spermata) से संसार बना हुआ है। ये पुद्गल बहुत छोटे हैं, परन्तु परमाणुओं के सदृश अविभाज्य नहीं हैं और प्रत्येक द्रव्य के पुद्गल अपने ही विशेष गुणों से युक्त हैं। एनैक्सागोरस का सृष्टिक्रम प्रायः, ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

और मनुस्मृति के आरम्भ में जो सृष्टिक्रम दिया हुआ है, उसीका-सा है। इसके मत से सृष्टि के आरम्भ में सब वस्तु मिली हुई थी, कोई विशेष नहीं विदित हो सकता था। आत्म-शक्ति (Nous) ने किसी एक केन्द्र में चक्राकार गति उत्पन्न की। उसी आवर्त में सब आसपास के द्रव्य आने लगे और घन द्रव्य नीचे जमने लगे, हल्के द्रव्य ऊपर गये। इसी घन द्रव्य से पृथ्वी हुई। इसी प्रकार सृष्टिक्रम चला। एक बार गति उत्पन्न कर फिर ईश्वर संसार में हाथ डालता है या नहीं, इस विषय में एनैक्सागोरस ने कुछ नहीं कहा है। इन्द्रियज ज्ञान विरुद्ध वस्तु का होता है, अर्थात् जिस इन्द्रिय में प्रभा का अंश अधिक है, उससे, अन्धकार जिसमें अधिक हो, उसीका ग्रहण होगा। इसीलिए, दृष्टि भास्वर द्रव्य के पार हो जाती है और मन्द प्रभावाले द्रव्य को देखती है। ऐसा ही और इन्द्रियों के विषय में भी जानना।

जिस शतक में पूर्वोक्त चारों दार्शनिक हुए, उस शतक में प्रायः बराबर दार्शनिकों में इन्द्रियज ज्ञान को प्रमाण न मानने की प्रवृत्ति रही और संसार की सृष्टि, स्थिति आदि के विषय में जो कल्पनाएँ संभव थीं, वे निकल चुकी थीं। अब यह अन्वेषण स्वाभाविक आ पड़ा कि मनुष्य का ज्ञान कहाँतक ठीक है; क्योंकि विना इसका ठीक पता लगाये, जो चाहे सो कल्पना मनुष्य कर ले सकता है। यह तो अवस्था मनुष्यों के चित्त की थी। इस समय ग्रीस देश की भी ऐसी अवस्था थी कि वक्तृता और तर्क से जो मनुष्य के चित्त पर असर दे सके, उसीका प्रजाराज्य में अधिकार हो। ऐसी अवस्था में, तर्क से सब मतों की परीक्षा करनेवाले सर्वमान्य को वक्तृता आदि से शिक्षा देनेवाले हेतुवादी तार्किक (Sophoi) हुए। इनमें से मुख्य प्रोटेगोरस नाम का था। यह डीमोक्रीटस् का मित्र था। हेरैक्लीटस् ने दिखाया था कि कोई वस्तु, जिसको हम इन्द्रियों से देख सकते हैं, स्थिर नहीं है। इस-लिए इन्द्रियज ज्ञान सत्य शुद्ध परमार्थ को नहीं बता सकता। परमार्थ जानने के लिए विवेक की शरण लेनी चाहिए। पर डीमोक्रीटस् ने दिखाया था कि विवेक-शक्ति भी इन्द्रियजन्य ही है और वस्तुतः इन्द्रियज ज्ञान से अतिरिक्त नहीं है। इन दोनों मतों को मिलाकर प्रोटेगोरस ने यह स्थिर किया कि कोई ज्ञान स्थिर नहीं है और प्रत्यक्ष से इतर किसी वस्तु की स्थिति नहीं है। थेलीज आदि दार्शनिकों के प्रथम द्रव्य, एम्पेडोक्लीज़ के तत्त्व, डीमोक्रीटस् के परमाणु या एनैक्सागोरस के पुद्गल सभी कल्पना-मात्र हैं। मनुष्यों की इन्द्रियों के द्वारा जो वस्तु जैसी विदित होती है, वैसी ही है। पर, एक मनुष्य को जो वस्तु सफेद जान पड़ती है, वही दूसरे को पीली जान पड़ती है। एक को जो अच्छा मालूम होता है, सो दूसरे को बुरा मालूम पड़ता है। इस प्रकार, प्रत्येक मनुष्य का ज्ञान भिन्न रूप का है और परमार्थ कोई एक वस्तु नहीं है। जो जिसको जान पड़े, वही उसके लिए सत्य और परमार्थ है। इसलिए पारमार्थिकता व्यक्तिगत है, सर्वसामान्य के लिए एक नहीं है। इसी प्रकार धर्म, आचार आदि के विषय में भी कोई एक बात ठीक नहीं है। जिसकी जैसी शिक्षा हो, जैसी रुचि हो और जैसा अभ्यास हो, उसे वैसा ही आचार-व्यवहार अच्छा जान पड़ता है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

इस प्रकार प्रोटैगोरस ने, पहले से जो मत स्थिर थे, उनकी जड़ खोद डाली और नये प्रकार के विचारकों को अपने विचार प्रकाश करने का अवसर मिला।

द्वितीय अध्याय

साक्रटीज, प्लेटो, अरिस्टाटल—साक्रटीज उन दार्शनिकों में से प्रथम हैं, जिन्होंने पूर्वोक्त तार्किक के कुतर्कों का खण्डन कर पुनः दर्शन का नये प्रकार से स्थापन किया यह स्वयं बड़ा तार्किक था। इसका पिता पत्थर काटनेवाला था और माता गर्भ-रक्षा का काम करती थी। इसके पिता का नाम सोफ्रोनिस्कस था और माता का नाम फेनारेटी था। किसी-किसी ने लिखा है कि वह एनैक्सागोरस का शिष्य था, पर इस बात का पक्का प्रमाण नहीं है। यह तार्किकों के साथ प्रायः मिलता था और उनके व्याख्यानों को सुना करता था। पर इसका दार्शनिक विज्ञान किसी गुरु से नहीं मिला था, किन्तु इसीके गम्भीर विचारों से आविर्भूत हुआ। अपने पिता का कार्य इसने सीखा था। पर, विज्ञान में लगने के कारण इसकी जीविका अच्छी तरह नहीं हो सकती थी। किन्तु, बड़ी दरिद्रता की अवस्था में भी इसने अपने उदार विचारों को न छोड़ा। इसका जीवन बहुत ही साधारण था। न्याय, दया, भक्ति आदि गुणों के कारण यह मनुष्यों के लिए आदर्श-रूप समझा जाता है। इसका मुख्य कार्य बाजार आदि में जाकर अच्छे लड़कों के सामने धर्म आदि पर व्याख्यान देना और उनको अच्छी रीति पर ले चलना था। अन्त में इसके मूर्ख शत्रुओं ने इसपर नास्तिकता आदि का अपवाद लगाया और इसके नगर के शासकों ने इसके विष द्वारा वध की आज्ञा दी। कारागार से इसके मित्रों ने इसे भगाने का प्रबन्ध किया, पर इसने इस छल को स्वीकार नहीं किया। शासकों की आज्ञा से इसे विष दिया गया और इसने शान्तिपूर्वक विष खाकर इस संसार को छोड़ा।

इसके दो प्रिय शिष्य थे—एक प्लेटो और दूसरा जेनोफन। साक्रटीज का अपना कोई लेख न होने के कारण इन्हीं दोनों के लेखों से इसके दर्शन का पूरा पता लगता है। साक्रटीज का यह मत था कि मनुष्य को प्रकृतिविज्ञान से उतना लाभ नहीं है, जितना कि आचारविज्ञान से। इसलिए, आचार-तत्त्वों का अन्वेषण ही दार्शनिकों का मुख्य कर्तव्य है। साक्रटीज समझता था कि ज्ञान और धर्म अभिन्न हैं। अज्ञानी धर्म नहीं कर सकता और ज्ञानी अधर्म नहीं कर सकता। अधर्म वही मनुष्य करता है, जो अधर्म ही से अपना वास्तव लाभ की आशा करता हो। जिसको यह पक्का ज्ञान है कि धर्म से पारमार्थिक लाभ है, वह पुरुष कभी अधार्मिक नहीं हो सकता है। मनुष्य को आत्मज्ञान पर, अर्थात् अपनी बुद्धि और शक्ति पर बराबर विचार रखना चाहिए। प्रायः जिस बात को मनुष्य कुछ नहीं समझते, उसको भी वे समझते हैं कि वे अच्छी तरह जानते हैं, इसलिए सदा अपने ज्ञान की परीक्षा मनुष्य को करते रहना चाहिए। जिससे उचित प्रकार से लाभ हो, वही कार्य

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

मनुष्य को करना चाहिए। अपनी आवश्यकताओं को कम कर देने से और सहनशीलता आदि गुणों के बढ़ाने से मनुष्य का जीवन सुख से बीत सकता है।

साक्रटीज का मुख्य शिष्य प्लेटो था। इसका पिता एरिस्टी और माता पेरिक्रिग्नी दोनों ही बड़े प्रतिष्ठित और धनी वंश के थे, इससे प्लेटो को अच्छी शिक्षा का अवसर मिला। प्लेटो का प्रथम नाम एरिस्टोक्लीज था। दर्शन का अभ्यास इसको केटिलस और साक्रटीज से हुआ। साक्रटीज की मृत्यु के समय यह बाहर था और उस वृत्तान्त को सुनकर, उदास होकर, ईजिप्ट आदि देशों में घूमकर एथेन्स में आया। वहाँ कुछ वर्ष रहने के बाद फिर भी यह देशाटन के लिए गया। अनेक क्लेशों के बाद लौटकर एथेन्स की व्यायाम-भूमि में, और कुछ दिन अपने उद्यान में, इसने पाठशाला खोलकर वहाँ पढ़ाना और व्याख्यान देना आरम्भ किया। यह बड़ा गणितज्ञ भी था। इन पाठशालाओं में गणित और दर्शन की शिक्षा होती थी। सच्चरित्रता, विद्या और शान्ति से सब लोगों से मान पाकर, बहुत से दर्शन के ग्रन्थ लिखकर अन्त तक पूर्ण शारीरिक और मानसिक शक्ति रखता हुआ यह अस्सी बरस का होकर मरा। इसके ग्रन्थ प्रायः संवाद के आकार में लिखे गये हैं। इनमें दो या अधिक पुरुष दर्शन और नीति आदि के विषय में परस्पर शंका-समाधान आदि करते हैं। ऐसे पैंतीस संवाद और तेरह पत्र प्लेटो के ज्ञात हैं। इन ग्रन्थों में साक्रटीज मुख्य वक्ता बनाया गया है और उस समय के और लोग शंका आदि करनेवाले हैं।

प्लेटो के दर्शन में प्रायः चार विभाग हैं। यद्यपि प्लेटो ने अपने मुख से इन विभागों का नाम नहीं लिया है, पर वस्तुतः इसका दर्शन इन विभागों में विभक्त हो सकता है—पहला उपक्रम-विभाग, दूसरा तर्क-विभाग, तीसरा विज्ञान-विभाग और चौथा आचार-विभाग।

उपक्रम—दर्शन-स्थापन के लिए प्लेटो ने यह दिखाया है कि जनता के सामान्य ज्ञान से या तार्किकों के तर्क से वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता है। सामान्य जन प्रत्यक्ष और दूसरों के मत पर विश्वास करते हैं। अब, इन दोनों प्रमाणों में प्रत्यक्ष से तो वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो ही नहीं सकता; क्योंकि प्रत्यक्ष से केवल यही विदित हो सकता है कि कौन वस्तु किसको कैसी मालूम होती है, उसका वास्तव रूप क्या है यह प्रत्यक्ष से कैसे विदित हो सकता है। मतों में भी परस्पर इतना विरोध है कि किसको ठीक समझा जाय। इन मतों में प्रायः भ्रम की भावना रह जाती है। तब, यदि प्रत्यक्ष और शब्द-प्रमाण को छोड़ दिया जाय, तो तीसरा तार्किकों का तर्क है, जिससे तर्कानुसारी लोग यथार्थ ज्ञान का सम्भव बतलाते हैं। पर, इन तार्किकों ने यह सिद्ध किया है कि ज्ञान-आचार आदि सब व्यक्ति के अधीन हैं। जिस व्यक्ति को जैसी जो वस्तु विदित हो, वह वैसी ही है। इस नियम के अनुसार आचार, धर्म आदि का मूल नष्ट हो जाता है; क्योंकि इससे प्रत्येक व्यक्ति को जिसमें अपना सुख हो सके, वही कार्य करना उचित होगा। इस प्रकार प्रत्यक्ष, शब्द और तर्क का खण्डन कर प्लेटो ने यह स्थापन किया है कि वास्तव ज्ञान

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

दार्शनिक विवेक से होता है। इन्द्रियों से बुद्धि पर, व्यक्ति से जाति पर पहुँचकर संवित् (Idea) का बोध-विवेक है। सामान्य प्रत्ययों के द्वारा विचार करने से मनुष्य संवित् तक पहुँच सकता है।

तर्क—साक्रटीज के मत से वास्तव ज्ञान सामान्य प्रत्ययों के द्वारा होता है। हेरैक्लीटस ने भी दिखाया है कि इन्द्रियों से केवल परिवर्तन का ग्रहण होता है। किस वस्तु का परिवर्तन इस संसार में हो रहा है, यह इन्द्रियों से नहीं विदित हो सकता। इसलिए सामान्य प्रत्ययों के द्वारा विचार करने से ही वस्तुज्ञान सम्भव है। संसार में बहुत से लोग वीर, उदार आदि हैं, पर इन सबमें जो वीरता, उदारता आदि सामान्य धर्म हैं, जिनके द्वारा प्रति व्यक्ति कौन कितना वीर या उदार है, यह हम समझ सकते हैं। वही सामान्य वीरता और उदारता का आकार (Idea वास्तव है, उसी के नमूने पर सब वीर और उदार बने हैं। यह वीरता और उदारता आदि का आकार या सामान्य बोध केवल मनुष्य, देवता आदि के मन में है, ऐसा नहीं समझना चाहिए। ये आकार स्वयम्भू और सनातन हैं, इनकी स्थिति किसी के अधीन नहीं है। इन आकारों में भी उत्तमता का आकार सबका मूल है। इसीके और सब भेद हैं। संसार में जितने धर्म (वीरता, उदारता, पाण्डित्य आदि) हैं, सबकी स्थिति क्यों है, यह यदि पूछा जाय, तो यही उत्तर होगा कि ये सब धर्म आकार या सामान्य प्रत्यय अच्छे हैं, संसार को इनसे भलाई है, इससे ये हैं। इसलिए उत्तमता रूप धर्म और सब धर्मों का मूल है और सब वस्तुओं का सारांश है। व्यक्ति यद्यपि अशुद्ध, अपूर्ण और अनित्य है तथापि, उन व्यक्तियों में जो सामान्य धर्म है, सो पूर्ण, नित्य और शुद्ध है। यही उत्तमता प्लेटो के मत से ईश्वर का स्वरूप है।

विज्ञान—असत् अनाकार शून्य-रूप आकाश में सब सांसारिक वस्तुएँ सत्य-स्वरूप संवित् या सामान्य प्रत्यय से उत्पन्न होती हैं। उनमें जो विकार आदि धर्म हैं, सो असत् से बने हैं और उनमें जो स्थिर सत्ता है, सो संवित्स्वरूप है। संवित् सब वस्तुओं का प्रथम नमूना है और सांसारिक वस्तुएँ इसी नमूने की नकल हैं।* इस प्रकार, संवित् और मूर्त वस्तुएँ यदि पृथक् हैं, तो इन दोनों को मिलानेवाला और साथ ग्रहण करनेवाला कोई पदार्थ होना चाहिए। यह पदार्थ आत्मा है। विश्वात्मा (Demiurgus) का उद्भव प्लेटो के टीमयस् नामक ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक वर्णित है। यह विश्वात्मा संसार में गति और जीवन देता है। यह आत्मा अमूर्त सर्वव्यापी चित्-स्वरूप है। विश्वात्मा ने जल, वायु, अग्नि और पृथ्वी के द्वारा सब मूर्त पदार्थ बनाया है। इन चार तत्त्वों से यह गोलाकार संसार बना है, जिसके बीच में भूगोल है और चारों ओर तारे हैं। विश्वात्मा के जो धर्म हैं, वे ही मनुष्य की आत्मा के भी हैं। लोकान्तर से जीवात्मा यहाँ आई है। जो मनुष्य विवेकी हैं और अच्छा कार्य करते हैं, उनकी आत्मा लोकान्तर में उत्तम गति पाती है। जो नीच कार्य करते हैं, उनकी नीच गति होती है और उन्हें छोटे जन्तुओं का जन्म लेना पड़ता है। पूर्व जन्म में जीवों ने संवित् के स्वरूप देखे हैं, इसलिए

*इन बातों से यह विदित होता है कि प्लेटो का मत विज्ञानवाद (Idealism) और द्वैत (Dualism) का मिश्रण है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

वस्तुओं को संसार में देखते ही उनके मूल प्रत्ययों का आविर्भाव हो जाता है। आत्मा का मुख्य रूप विवेक है। पर, शरीर में प्रवेश होने से उत्साह और इच्छा दो धर्म और इसके हुए हैं। विवेक का स्थान मस्तिष्क, उत्साह का स्थान हृदय और इच्छा का स्थान शरीर का अधोभाग है।

आचार—आत्मा चित् स्वरूप है, मूर्त्त पदार्थों में इसका वास्तव कोई स्पृहणीय विषय नहीं है। शरीर-बन्ध से मुक्त होकर आत्माराम होना ही इसका मुख्य उद्देश्य हो सकता है। पर ज्ञान के साथ-ही-साथ शुद्धचित से सांसारिक आनन्द (Idea) का ग्रहण करना मनुष्य का कर्त्तव्य है; क्योंकि सांसारिक वस्तु चितपदार्थ ही की नकल है, ऐसा पहले दिखाया गया है। इसलिए, चित्स्वरूप को प्राप्त होने के सांसारिक पदार्थ उपायभूत हैं और संसार में जो शिल्पकला आदि का सुख चितशुद्धि का विरोधी नहीं है, इसका अनुभव करना उचित है। ज्ञानपूर्वक धर्म करना मनुष्य को उचित है। धर्म सदा सुखस्वरूप है। अधर्म दुःखमय है। धार्मिक को धर्म करने ही में आनन्द है। उस धर्म का पारितोषिक वह नहीं चाहता। इसी प्रकार अधार्मिक का बड़ा दण्ड उसका अधर्म ही है। अधर्म से बढ़कर और कोई दुःख नहीं हैं। विचार, उत्साह, आत्मदमन और न्यायपरता—ये चार मुख्य धर्म हैं।

प्लेटो का शिष्य अरिस्टाटल था। यह स्टेजिरा नगर के वैद्य निकोमेक्स का पुत्र था। मेसिडन के राजा, प्रसिद्ध सिकन्दर के अध्यापक का कार्य कुछ वर्ष तक इसने किया। सिकन्दर अनेक जन्तु आदि इसको भारत आदि देशों से अपनी यात्रा में भेजा करता था, जिससे अरिस्टाटल को विज्ञान के अन्वेषणों में बड़ी सहायता मिली। एथेन्स नगर के लोकियम के बागों में यह अध्यापन किया करता था। सिकन्दर के मरने पर एथेन्स में लोगों ने राजविप्लव की अवस्था में अरिस्टाटल पर नैतिक अभियोग लगाये, जिस कारण वहाँ से हटकर वह काल्किस नगर में गया और कुछ दिनों में वहाँ मर गया। ऐसा कोई दर्शन या विज्ञान का विषय प्राचीन समयों में नहीं ज्ञात था, जिस पर अरिस्टाटल ने कुछ न लिखा हो। न्यायशास्त्र का यूरोप में उपक्रम इन्हों ने किया। आचार, नीति, शारीरक, जन्तु-विद्या आदि अनेक शास्त्र इसने प्रकाश किये। दार्शनिक विषय को इसने प्रथम दर्शन के नाम से व्यवहृत किया है। इसमें ईश्वर, जगत् आदि सामान्य विषयों का प्रपंच हैं। द्वितीय दर्शन में गणित, जन्तु-विद्या आदि विशेष विज्ञानों का वर्णन है। इसलिए, दर्शन और विज्ञान, इन दो भागों में इसके ग्रन्थों के विषय यहाँ कहे जायेंगे।

दर्शन—पदार्थ दस हैं—द्रव्य, परिमाण, गुण, सम्बन्ध, देश, काल, अवस्थिति, सता, कार्यकारिता, कार्यग्राहिता। परिमाण, गुण, सम्बन्ध का अन्वेषण विशेष शास्त्रों के अधीन है। दर्शन का मुख्य विषय सता है। सम्बन्धानपेक्ष शाश्वत कौन वस्तु सबका मूल है, इसका अन्वेषण दर्शन के द्वारा होता है। प्लेटो ने सामान्य प्रत्ययों को वस्तुओं से पृथक् माना है। पर, सामान्य प्रत्यय विशेष वस्तुओं से पृथक् कैसे रह सकता है, इसका प्रमाण उसने नहीं दिया है। सामान्य प्रत्यय वास्तव है, पर विशेष वस्तु का वह आकार है,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

उससे पृथक् नहीं हैं। विशेष और सामान्य सर्वदा साथ रहते हैं। इन दोनों के मिलने से सब वस्तुएँ जगत् में है। द्रव्यवादियों का आकाररहित द्रव्य वैसा ही असम्भाव्य है, जैसा संविद्वादियों का द्रव्यरहित आकार। इसलिए, आकृति और द्रव्य दोनों सभी वास्तव पदार्थों में हैं और एक से दूसरा पृथक् केवल मनुष्य की बुद्धि में हो सकता है, संसार में नहीं पृथक् हो सकता। अब, ये साकार पदार्थ कैसे उत्पन्न होते हैं, इस विषय का कुछ विचार होना चाहिए। प्राकृत या कृत्रिम जितनी वस्तुएँ हैं, सभी के निर्माण के लिए चार कारणों की अपेक्षा होती है। समवायिकारण, असमवायिकारण, निमित्तकारण और उद्देश्य (Material, Formal, Efficient and Final causes)। जैसे घड़ा बनाने में मिट्टी समवायिकारण या उपादान कारण है, जिसको लिये हुए घड़े का निर्माण होता है। उस घड़े का कोई विशेष रूप है, जिसके सदृश आकार कुम्हार के मन में भी था, उसके आकार पर घड़ा बना है। यही कुम्हार के मन में जो घड़े का आकार है, वह असमवायिकारण हुआ। कुम्हार की शक्ति, चाक, डण्डा इत्यादि निमित्त कारण हैं। इसी प्रकार पानी भरना या और जो घड़े का प्रयोजन हैं, वह उद्देश्य कारण है। इन चारों कारणों में से भी असमवायि, उद्देश्य और निमित्त, ये तीनों एक ही तत्त्व में पाये जाते हैं, जैसे कि मनुष्य की उत्पत्ति में तीन कारण मनुष्य के आकार-स्वरूप हैं, केवल समवायिकारण भिन्न है। वही आकार अपनी शक्ति से दूसरा आकार अपने सदृश उत्पन्न करता है, इसलिए वही कारण हुआ। वैसा आकार उत्पन्न हो, यही माता-पिता का प्रयोजन है, इसलिए उद्देश्य हुआ। केवल जिन वस्तुओं का शरीर बना है, वह समवायिकारण पृथक् रहा। इसलिए मुख्य दो ही कारण हैं, आकार और द्रव्य। इन्हीं दोनों वस्तुओं से सब कुछ बना है। इनमें भी आकार प्रधान है, द्रव्य केवल सहकारी है। द्रव्य वस्तु का अपूर्ण रूप है। आकार पर पहुँचने के लिए द्रव्य की प्रवृत्ति होती रहती है। अपूर्ण द्रव्य का अपने पूर्ण आकार में परिणाम होता है। इसलिए द्रव्य, परिणाम और आकार ये तीन विषय सर्वत्र अरिस्टाटल के दर्शन में मिलते हैं।

अरिस्टाटल के मत से सब कुछ द्रव्य और आकार दोनों से मिलकर बना है। मनुष्य का शरीर द्रव्य है और आत्मा आकार है। केवल परमेश्वर शुद्ध पूर्ण आकार-मात्र है, द्रव्य से उसको सम्बन्ध नहीं है। ईश्वर सब जगत् का निमित्त और उद्देश्य है। ईश्वर ने संसार में प्रथम गति उत्पन्न की। वस्तुओं में जो गति है, उसका एक के पहले दूसरा, उसके पहले तीसरा ऐसे ही कारण की परम्परा पाई जाती है। यदि कहीं ऐसी वस्तु इस परम्परा में न मानी जाय कि जो स्वयं स्थिर अचल होकर भी औरों में गति उत्पन्न करती है, तो अनवस्था दोष आता है। इसलिए, ईश्वर वह वस्तु माना गया है, जो स्वयं कूटस्थ और अचल है, पर सब वस्तुओं की गति उत्पन्न करता है। जैसे सुन्दर प्राकृत पुष्प आदि या कृत्रिम चित्र आदि देखकर पुरुष मोहित होकर उसको ओर आकृष्ट होकर दौड़ता है। सबका आदर्श-स्वरूप महाशक्तिशाली ईश्वर है। ईश्वर अशरीर है, इसलिए वेदना, क्षुधा, तृष्णा, इच्छा ईश्वर आदि को नहीं है। ईश्वर शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। ईश्वर सत् रूप से

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

संसार में कारणात्मा है और संसार से बाहर भी है; क्योंकि उसी के स्वरूप को प्राप्त करने के लिए सब संसार की प्रवृत्ति है। सभी वस्तुओं का स्वाभाविक नित्य ज्ञान ईश्वर को है।

द्वितीय दर्शन या विज्ञान—संसार गतिमय है। विज्ञान का मुख्य उद्देश्य गति के तत्त्वों का अन्वेषण है। गति ही परिवर्त्तन और विकार का कारण है। वृद्धि और लक्ष्य, गुण और परिमाण में भेद, स्थान की परिवृत्ति—ये सब गति ही के भेद हैं। इनमें से भी स्थान-परिवर्तन गति का मुख्य आकार है। देश और काल दोनों गति के नियामक हैं। परिच्छिन्न और परिच्छेदक की सीमा को देश कहते हैं। वस्तुतः देश कोई शून्य या द्रव्यान्तर नहीं है। द्रव्यों के भीतर या बाहर शून्य कहीं नहीं है। एक द्रव्य के हटने से दूसरा द्रव्य उसके स्थान में आ पहुँचता है। वास्तव देश परिच्छन्न है; क्योंकि जिसका आकार नहीं, वह केवल सम्भाव्य है, वास्तव नहीं। इसलिए, वास्तव देश, अर्थात् सब जगत् गोलाकार है। काल केवल परिवर्त्तन की संख्या को बतलाता है और सम्भाव्य है, इसलिए उसका अन्त नहीं है। जैसे शिल्प-कला आदि में उद्देश्यसाधन के लिए यत्न है, वैसे ही प्रकृति के भी कार्य उद्देश्यपूर्वक होते हैं। प्रकृति में एक-से-एक वस्तु उत्तम देखी जाती है। निर्जीवों से उत्तम जीव हैं। जीवों में भी वृक्ष आदि में केवल रसग्रहण और उत्पादन-शक्ति है। ये पशु-पक्षी आदि के उपयोग के उद्देश्य से बने हैं। पशु-पक्षी आदि प्राणियों में रस-ग्रहण और उत्पादन-शक्ति के अतिरिक्त संवेदन-शक्ति भी है, जिससे उनको सुख-दुःख आदि का अनुभव होता है। प्राणियों में भी सबसे उत्तम मनुष्य है जिसके उपयोग के लिए शेष संसार है। पृथ्वी पर इससे उत्तम सृष्टि और कोई नहीं है। मनुष्य में जो विवेक-शक्ति है, इसके कारण यह सर्वोत्तम है। विज्ञान आत्मा का रूप है। आत्मा कोई पृथक् द्रव्य नहीं है, पर शरीर की शक्ति है। इसलिए, जिस शरीर में जो आत्मा है, वह उसी में रहेगी। आत्मा का बन्ध और मोक्ष मानना भ्रम है। पर एक बात का खयाल रहना चाहिए कि आत्मा में दो अंश हैं। एक अनुभवाधीन ज्ञान (Nous Pathetikos) और दूसरा शुद्ध अंश है, जो अनुभवनिरपेक्ष स्वयं ज्ञानस्वरूप है। इसमें अनुभवाधीन जो पराधीन अंश है, सो तो नश्वर है। पर, शुद्ध निरपेक्ष अंश (Nous Pointikos) अमर है। यह शुद्ध विवेक-शक्ति प्रकृति का अंश नहीं है, शरीराधीन नहीं है। यह शुद्ध आत्मा एक है या अनेक, यह साक्षात् ईश्वर है या और कोई पदार्थ है, यह अरिस्टाटल के व्याख्यानदाताओं को निश्चय नहीं हुआ है। अमूर्त, शुद्ध आदि लक्षणों से प्रायः जान पड़ता है कि यह ईश्वरस्वरूप और एक है। मनुष्य में अनुभव और विवेक, दोनों होने के कारण आचार, अर्थात् उचितानुचित का अनुसरण और परिहार मनुष्य ही को हो सकता है। ईश्वर शुद्ध विवेक-स्वरूप है, इसलिए उसके यहाँ अनुचित का सम्भव ही नहीं है। छोटे जन्तुओं को विवेक नहीं है, इसलिए उन्हें उचितानुचित का भेद ज्ञात ही नहीं हो सकता। केवल मनुष्य ही को अनुभव के द्वारा विषयों के ग्रहण का सामर्थ्य, विवेक के द्वारा कौन विषय ग्राह्य है

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

और कौन अग्राह्य, इसके विचार का भी सामर्थ्य है । इसलिए, आचार का सम्भव मनुष्य ही को है । आचार धर्म है और अधर्म दुराचार है । जिससे कोई व्यक्ति अपनी पूर्णता को पहुँचे, वही धर्म है और जिससे अपूर्णता को, वही अधर्म है । तो यदि अनुभवांश, या विवेकांश कोई भी, मनुष्य का नष्ट हो या दुर्बल हो, तो यह एक अपूर्णता है, इसलिए अनुभव का मूल, शरीर की रक्षा करते हुए विवेक के द्वारा निश्चिन्त और सुखी रहना ही मनुष्य के लिए धर्म है । शरीर को नष्ट कर ईश्वरमग्न होने की इच्छा या विवेक को नष्ट कर संसार ही में पचने की इच्छा, दोनों ही मूर्खता है । धर्म व्यसन का अत्यन्त विरोधी है, ऐसा नहीं समझना चाहिए । दो अन्तों के मध्य में प्रायः धर्म की स्थिति रहती है । 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' यही धर्म का तत्त्व है । कातरता और निरर्थक साहस दोनों ही पाप हैं; उत्साह दोनों के बीच में है, इसलिए उत्साह को धर्म समझना चाहिए ।

साक्रटीज, प्लेटो और अरिस्टाटल, ये तीन ग्रीस के सबसे बड़े दार्शनिक थे । इन तीनों के मतों को साम्प्रतिक दर्शन और विज्ञान का भी मूल समझना चाहिए । आचार (Ethics) शास्त्र का उपक्रम साक्रटीज और उसके अनुयायियों ने किया । सत्ताशास्त्र (Ontology) का उपक्रम प्लेटो और उनके अनुयायियों से समझना चाहिए । विज्ञान (Natural Philosophy) की प्रायः सब शाखाओं की उत्पत्ति अरिस्टाटल और उसके अनुसारियों से है ।

साक्रटीज के अनुयायियों में से अरिस्टाटल ऐरिस्थेनीज आदि कितनों ने आचार ही को मुख्य समझा और दूसरे युक्लीडीज आदि ने व्यावहारिक विषयों पर उतना ध्यान न देकर ज्ञान के विषयों पर अधिक ध्यान दिया । साइरीन के अरिस्टिपस् के मत से वास्तव सत्ता का ज्ञान मनुष्य को नहीं हो सकता । तार्किकों का अनुसरण कर इसने माना है कि प्रत्येक मनुष्य का ज्ञान भिन्न है । दुर्व्यसनों से बचकर विचारपूर्वक सुख-सेवन करना ही मनुष्य के जीवन का उद्देश्य है । मैत्री आदि मानसिक सुख बाह्य सुखों से उत्तम हैं, इसलिए इन सुखों पर अधिक श्रद्धा रखनी चाहिए । बाह्य सुखों के पीछे बहुत नहीं पड़ना चाहिए । साइरीन के दार्शनिकों ने सुख को अन्तिम उद्देश्य मानकर अन्ततः कुछ विलक्षण ही निश्चय किया । हेजीसियस नाम का एक दार्शनिक इनमें हुआ, जिसने यह दिखाया कि यदि मनुष्य का उद्देश्य सुख है और सुख से कहीं अधिक दुःख, इस संसार में अनुभव से देख पड़ता है, तो इस दुःखमय जीवन को छोड़ने ही में सुख है, इसलिए, सबको आत्मघात करना ही उचित है । पर ऐसे मृत्यु-सुखवादी अपने मत का प्रचार न कर सके और फिर सांसारिक सुखवाद बड़ी प्रौढता से ऐपीक्यूरस ने चलाया, जैसा कि शीघ्र दिखलाया जायगा ।

ऐरिस्थेनीज दूसरा अनुयायी साक्रटीज का था । इसके मत से, धर्म ही मनुष्य का उद्देश्य है. धर्मविरुद्ध सुख निरर्थक है । धर्माचरण का कोई और बाह्य उद्देश्य नहीं है । कर्त्तव्य-बुद्धि से ही धर्म करना चाहिए । इस मत के अनुसारी भी डायोजेनीज आदि सभ्यता, शील आदि छोड़ पशुओं के सदृश जीवन बिताने लगे, पर पुनः इनका संस्कार

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

जीनों नामक दार्शनिक ने किया और इस मत का पूर्ण प्रतिपादन किया, जैसा कि आगे कहा जायगा।

युक्लिडीज, तीसरा अनुयायी साक्रटीज का बड़े विचार का, दार्शनिक था। इसने पार्मेनिडीज की सत्ता और साक्रटीज का निःश्रेयस्, दोनो एक हैं, ऐसा कहा है। इसके अतिरिक्त इस दार्शनिक के विषय में कुछ नहीं विदित है। प्लेटो को इसके मत से बड़ी सहायता मिली, ऐसा बोध होता है।

प्लेटो के अनुयायी स्प्युसिपस् आदि हुए। पर इसके मत का पुनः प्रचार चिरकाल के बाद प्लोटिनस आदि ने किया, जैसा इस भाग के अन्त में कहा जायगा। अरिस्टाटल के अनुयायी, फ्रांसिस बेकन के समय तक, सहस्रों हुए, जिनका वर्णन स्थान-स्थान पर होगा।

तृतीय अध्याय

अरिस्टाटल के समय में सिकन्दर शाह (अलेक्जेण्डर) ने ग्रीस देश का विजय किया। सिकन्दर के मरने के बाद देश की ऐसी अस्त-व्यस्त अवस्था थी कि दार्शनिकों ने राजनीति आदि बाहरी विषयों को छोड़कर आचार आदि आत्मसंस्कार के लिए आवश्यक विषयों पर अधिक ध्यान देना आरम्भ किया। इन दार्शनिकों में मुख्य जीनों और एपीक्यूरस थे।

जीनों, स्टोइक—जीनों का जन्म सीप्रस् टापू में हुआ था। एथेन्स नगर में इसने अपने दर्शन का प्रचार किया। आचार इसका सदा श्लाघनीय था, पर अन्त में इसने इच्छा-पूर्वक आत्मघात किया। इसके क्लिटोंथीज, पर्सियस आदि अनेक अनुगामी थे। जीनों और उसके अनुयायियों के मत से प्लेटो का संवित् (Idea) कोई पृथक् वस्तु नहीं है। प्रत्यक्ष ही सब ज्ञान का मूल है। संसार के अनुभव के पहले आत्मा को ज्ञान नहीं था। जैसे मोम पर मोहर की जाय, वैसे ही आत्मा पर वस्तुओं से असर पड़ता है। इसीसे हम लोगों को बाह्य वस्तुओं का ज्ञान होता है। जब वस्तु का ठीक असर पड़ता है, तो यथार्थ ज्ञान होता है। जब स्पष्ट असर नहीं पड़ता, तो भ्रम और सन्देह होता है। वस्तु एक है। वही कभी बाह्य संसार और कभी अन्तःकरण के रूप से देख पड़ती है। आत्मा पृथक् पदार्थ नहीं है।

एक ही वस्तु की स्थिति-शक्ति को शरीर और कार्य-शक्ति को आत्मा कहते हैं। जैसे मनुष्य आदि के शरीर में स्थिति-शक्ति और कार्य-शक्ति दोनों ही हैं, वैसे ही सम्पूर्ण संसार में भी है। संसार एक बड़ा जीव है, जिसका शरीर यह सब पृथ्वी आदि है और आत्मा ईश्वर है। समस्त जगत् में ज्ञान, प्राण, बुद्धि, कृति, नियम आदि कार्य ईश्वर के रूप हैं। हेरैक्लीटस के सदृश जीनों के अनुयायी भी अग्नि को मुख्य तत्त्व मानते हैं। प्राण अग्निमय है और सम्पूर्ण संसार युग के अन्त में जल जाता है और पुनः आविर्भूत होता है। ईश्वर जगत् में सर्वव्यापिनी शक्ति-रूप है, ऐसा ऊपर कह आये हैं। उसका ज्ञान अनन्त है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

संसार में जो दोष देख पड़ते हैं, उनसे भी सब मिलकर लाभ ही है। जैसे परस्पर विरुद्ध स्वरों के मेल से अच्छी संगति-ध्वनि निकलती है, वैसे ही सांसारिक दोष-गुण आदि सब मिलाकर उत्तम कार्य होता है।

जीनों के अनुयायियों के मत से अमूर्त कोई पदार्थ वास्तव नहीं है। इसलिए आत्मा को ये लोग उष्णश्वास रूप मानते हैं। ईश्वर एक बड़ा समुद्र-सा है, जिसका एक बिन्दु-रूप यह जीवात्मा है। संसार जब प्रलयाग्नि से नष्ट हो जायगा, तब जीवात्मा ईश्वर में मिल जायगी। पर ईश्वर, आत्मा आदि की कल्पनाओं से क्या प्रयोजन है? जीनों के अनुयायियों के अनुसार, आचार मुख्य है। निष्कारण धर्म करना ही मनुष्य के जीवन का उद्देश्य है। इसी से हम लोगों की भलाई है। केवल बाह्य आचरण धर्म नहीं है। ऐसा अभ्यास हो जाय कि धर्म स्वभावतः हुआ करे, अधर्म की ओर प्रवृत्ति ही न हो, तब मनुष्य को वस्तुतः धार्मिक समझना चाहिए। विचार, न्याय, संयम, उत्साह आदि सब विशेष धर्मों का मूल एक है। इसलिए जो एक धर्म का आश्रय करेगा, उसे और धर्म भी सुलभ होंगे। धार्मिक पुरुष प्रकृति, भवितव्यता या ईश्वर का न्याय, सबको एक समझकर संसार में ईश्वर के विचार से जो हो रहा है, उसी को भला समझता हुआ निश्चिन्त, शान्त, सुखी और स्वतन्त्र हो जाता है।

जीनों के अनुयायी (जिनको लोग स्टोइक भी कहते हैं) बहुत से हुए और इस मत का बड़ा आदर और प्रचार सर्वत्र हुआ। रोम में भी सिसिरो, सेनेका आदि इसके उत्तम अनुगामी हुए। रोम का धार्मिक सम्राट् मार्क्स आरोलियस् भी इस मत का अनुसारी था।

जीनों के साथ-ही-साथ एपीक्यूरस् नामक सुखवादी दार्शनिक का मत भी खूब चला। इसके भी अनुगामी ग्रीस और रोम दोनों ही प्रदेशों में हुए। जूलियस सीजर आदि रोम के बड़े-बड़े लोग एपीक्यूरस् के मतानुसारी थे।

एपीक्यूरस्—जिस वर्ष जीनों का जन्म हुआ, उसी वर्ष गार्गेहोज नगर में एपीक्यूरस का जन्म हुआ। अपने घर में और देश में, देवताओं में विश्वास आदि अनेक प्रकार की विज्ञान-विरुद्ध कल्पनाओं को देखकर उन विश्वासों से अनेक कर्मजालों में पड़कर मनुष्यों में अशान्ति और असन्तोष पाकर इस दार्शनिक ने डेमाक्रिटस् के मत का अवलम्बन किया। शान्त सन्तुष्ट सुखमय जीवन बिताना ही इसके आचारशास्त्र का उद्देश्य है। मूर्त पदार्थ, आत्मवादियों ने जैसा कहा है कि असत् है, वैसा ही नहीं है। नित्य परमाणुओं से बना हुआ अमूर्त संसार ही सत है। मूर्त पदार्थों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ये मूर्त पदार्थ परमाणुओं से बने हैं। परमाणुओं की स्वाभाविक गति है। पर, डीमोक्रीटस ने परमाणुओं में केवल अधोगति मानी है। एपीक्यूरस् के मत से यह गति टेढ़ी और गोलाकार भी अकस्मात् हो जाती है। इसलिए, सब वस्तुएँ कारणपूर्वक ही होती हैं, ऐसा इस दार्शनिक का मत नहीं है। कितनी वस्तुएँ बिना कारण अकस्मात् भी हो जाती हैं। इसलिए मनुष्य स्वतन्त्र है, अकस्मात् जो चाहे, सो कर सकता है। मनुष्य के सब कार्य पूर्व कर्मों से नियत हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिए।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

यह दुःख, सुख आदि परस्पर विरुद्ध वस्तुओं से मिश्रित अपूर्ण संसार, पूर्ण सुखमय देवताओं का या ईश्वर का बनाया हुआ नहीं हो सकता; क्योंकि पूर्ण सुखमय पुरुष को अपूर्ण वस्तु बनाने से क्या प्रयोजन है। इसलिए एपीक्युरस् देवता ईश्वर आदि अप्राकृत कोई वस्तु नहीं मानता। यदि मान भी लें कि जगत् किसी का बनाया हुआ है, तो बनाई हुई चीज शाश्वत तो हो नहीं सकती, किसी विशेष समय में बनी होगी और इसके बनने से सुख या असुख बनानेवाले को हुआ होगा। यदि सुख हुआ, तो सृष्टि के पहले स्रष्टा को सुख न था, या अल्प सुख था, तो वह सदा पूर्ण नहीं हुआ और यदि सृष्टि से उसे असुख हुआ, तो भी वह सुखमय नहीं है। इसलिए जगत् स्वाभावसिद्ध और शाश्वत है, किसी का बनाया नहीं है। इसके अतिरिक्त, काँटा, कुशा, मरुस्थल, सर्प व्याघ्र, बर्फ, व्याधि, अकालमृत्यु, शोक, दुःख आदि से भरा हुआ यह संसार किसके रहने के लिए बना। अप्राकृत पुरुषों को ऐसी बस्ती की आवश्यकता नहीं, प्राकृत पुरुषों में ज्ञानियों को संसार की अपेक्षा नहीं। तो यदि केवल मूर्खों के लिए यह बना है, तो मूर्ख भी उपद्रवकारी क्यों बनाये गये और उनके आराम के वास्ते यह संसार भी क्यों बनाया गया। इसलिए अप्राकृत वस्तु देवता आदि सृष्टि के लिए आवश्यक नहीं हैं। वे यदि कहीं हों भी, तो निश्चिन्त शान्त अलग पड़े होंगे, संसार में उनसे कोई लाभ-हानि आदि नहीं है और मिन्नी-भखटा आदि से पूजा करने की आवश्यकता नहीं है।

शरीर पर आघात आदि होने से आत्मा पर मूर्च्छा आदि असर देखा जाता है। इससे आत्मा सूक्ष्म मूर्त्त पदार्थ है। अमूर्त होता, तो मूर्त्त शरीर के आघात से उसको मूर्च्छा कैसे होती। इसलिए आत्मा भी मूर्त्त है और शरीर के साथ ही उसकी उत्पत्ति होती है, साथ ही उसका नाश भी होता है। बच्चे को बुद्धि छोटी और जवान को बुद्धि पक्की होती हैं, फिर बूढ़े सठिया जाते हैं। इससे भी जान पड़ता है कि शरीर के सदृश मूर्त्त, घटने-बढ़नेवाली कोई चीज आत्मा है। मरने के समय आत्मा धीरे-धीरे निकलकर परलोक को भागती हुई नहीं जान पड़ती, किन्तु केवल शरीर की शक्ति घटती जाती है। इन बातों से भी अमूर्त परलोकगामिनी आत्मा सिद्ध नहीं होती। फिर जैसे मनुष्य घर से ससुराल जाय, वैसे यदि आत्मा इस लोक से परलोक जाय, तो मृत्यु से मनुष्य डरते क्यों हैं। इसलिए लोकान्तरगामिनी आत्मा कोई वस्तु नहीं है और मनुष्य को मरण का भय, स्वर्ग की स्पृहा या नरक का त्रास आदि करना व्यर्थ है।

मरण का भय तो सर्वथा व्यर्थ और निर्मूल है। यदि आत्मा सद्वादियों के अनुसार सत् है. तो मैं मरा ही कहाँ कि भय हो और यदि शरीर नाश के बाद आत्मा है नहीं, तो जलने का, कीड़ों के काटने या नरक आदि का भय किसको। लोग समझते हैं कि मरे भी और न भी मरे, इसलिए मरने पर भी उन्हें क्लेश का भय रहता है। असल में पूछो तो मरण से किसी को सम्बन्ध ही नहीं है; क्योंकि जबतक जिन्दा है, तबतक मौत है नहीं, और जब मर गया; तो मौत का जिन्दगी से वास्ता नहीं। इसलिए, मौत कोई ऐसा जानवर नहीं है कि जो जानवर जीते-जिन्दगी आकर धीरे-धीरे पकड़ के खाय। इस कारण ज्ञानवान्

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

पुरुष को मृत्यु का भय दूर करके निश्चिन्त शान्त सुखमय जीवन बिताना चाहिए। धर्म मनुष्य का अन्तिम उद्देश्य नहीं है। सुख ही धर्म का भी उद्देश्य है। पर उत्तेजन और उसके बाद थकावट से सुख नहीं होता। इसलिए इन्द्रियों को विषयों में अत्यन्त लगाना उचित नहीं हैं। शारीरिक सुखों की अपेक्षा मानसिक शान्ति अधिक स्पृहणीय है।

पीरो—अरिस्टाटल के समय में सिकन्दर का एक मित्र पीरो नामक दार्शनिक हुआ था। इसने थेलीज से लेकर अरिस्टाटल तक दार्शनिकों के मतों में अत्यन्त परस्पर विरोध देखकर और मनुष्य की ज्ञानशक्ति का वास्तव सत्ता तक पहुँचना असम्भव समझकर किसी बात का निश्चय नहीं करना और सहसा कोई प्रतिज्ञा नहीं करनी, सर्वदा संशय में मग्न रहना—इस मत का प्रचार किया। थेलीज आदि ने 'संसार के मूल आदि का ज्ञान हो सकता है' ऐसी, प्रमाण के बिना ही, कल्पना कर ली थी। तार्किकों ने, पूर्ण विचार विना किये ही, इन वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो सकता, यह प्रतिपादन किया था। इसलिए पीरो की दृष्टि से ये दोनों मत भ्रममूलक हैं, और, विचारशील दार्शनिक को पारमार्थिक सत्ता का ज्ञान हो सकता है या नहीं, इस विषय में सन्दिग्ध ही रहना उचित है। इस संशयवाद का पुनः एनेसिडमस् के समय में बड़े आडम्बर के साथ उत्थान हुआ, जैसा इसी अध्याय में आगे लिखा जायगा। संशयवाद इस समय यहाँतक प्रबल हो चला कि प्लेटो के अनुयायी और उसकी अध्यापनशाला (Academy) के रक्षक आर्कीसिलाडस्, कार्नियेडीज आदि भी संशयवाद का अवलम्बन करने लगे। आर्कीसिलाडस् ने इन्द्रियजन्य, बुद्धिजन्य और सामान्य प्रत्यय रूप को असम्भव और भ्रममूलक दिखाया और आर्कीसिलाडस् और कार्नियेडीज—दोनों ही ने स्टोइक दर्शन का, जो कि इस समय प्रचारित था, खण्डन किया। कार्नियेडीज ने प्रतिपादन किया कि इन्द्रियजन्य ज्ञान सभी परस्पर विरुद्ध हैं और भ्रम देनेवाले हैं, इसलिए क्या सत्य है, इसके जानने के लिए कोई उपाय नहीं हैं। फिर, स्टोइक लोग कैसे कह सकते हैं कि क्या आचार है, क्या अनाचार है, क्या धर्म है, क्या अधर्म हैं। किसी वस्तु का उपपादन प्रमाण ही से होगा, पर प्रमाण ठीक है या नहीं इसके लिए एक और प्रमाण चाहिए। इसलिए बड़ी अनवस्था होगी और किसी बात का अन्तिम प्रमाण देना वस्तुतः सम्भव नहीं है। इसी प्रकार स्टोइक लोगों का ईश्वर भी सिद्ध नहीं हो सकता। एक तो, यदि ईश्वर की सृष्टि यह संसार है, तो इतने दोष और उपद्रव क्यों इसमें हैं; दूसरे, ईश्वर सत्यस्वरूप ज्ञानवान् पुरुष है, तो यदि सगुण और सशरीर उसे मानें, तो वह ईश्वर अनित्य हो जाता है, यदि निर्गुण मानें तो ऐसी वस्तु अभावस्वरूप ज्ञानादिहीन हो जाती है। इस प्रकार एक ओर संशयवाद का प्रचार हो रहा था और दूसरी ओर संग्रहवादियों ने अपना मत-प्रचार करना आरम्भ किया। संग्रहवादियों ने संशयवाद के सूखे कुतर्कों से उकताकर यह दिखलाया कि भिन्न मतों में परस्पर विरोध होने के कारण सभी में विश्वास न करना अनुचित है। जो विरुद्ध बातें हों, उन्हें छोड़कर सब मतों को मिलाकर ठीक अविरुद्ध बातों के संग्रह करने के एक कार्य का मार्ग निकालकर मनुष्य को अपने आचार, व्यवहार, लोक, परलोक आदि की व्यवस्था करनी चाहिए। इधर संशयवादियों के कुतर्कों

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

से लोग उकताये थे, उधर ग्रीस पर रोम का विजय हुआ। रोमन लोग कार्यशक्तिशाली थे। उनको अज्ञता और अश्रद्धा में पड़कर नष्ट होना कभी पसन्द नहीं हो सकता था। इसलिए, उन लोगों के संघर्ष के संग्रहवाद को बड़ा उत्साह मिला और भिन्न-भिन्न मतानुसारी दार्शनिक परस्पर मिलकर मतों की संगति दिखाने के लिए प्रस्तुत हुए।

बीथियस, पेनिटियस, पोसीडोनियस, जेसन, जमिनस, केटो आदि स्टोइक; मेट्रोडोरस. फाइलॉ, न्युकुलस्, ऐण्टियोकस् आदि प्लेटो के अनुयायी; अरिस्टो, क्रेटिपस आदि अरिस्टाटल के अनुगामी तथा सिसिरो, सेनेका, लूशियन गेलेन आदि प्रसिद्ध दार्शनिक और वैज्ञानिकों ने संग्रहवाद का अनुसरण किया। इन विद्वानों ने कोई दार्शनिक नवीन विषय नहीं निकाला, इसलिए इनकी उक्तियों का विस्तृत वर्णन यहाँ नहीं किया जाता।

इस प्रकार, संशयवादियों का और संग्रहवादियों का संघर्ष चल रहा था। पर, अभी तक संशयवादी शुद्ध दार्शनिक थे। केवल तार्किक युक्तियों के विचारों में परस्पर विरोध दिखाकर उन्होंने मतों का खण्डन किया था। अब विज्ञान के बल से शुद्ध दार्शनिक तर्कों के अतिरिक्त शरीरशास्त्र (Physiology) और सामान्यतः अनुभवमूलक और विषयों की सहायता से एनेसीडिमस् और उसके अनुगामी सेक्स्टस् एम्पिरिकस ने प्राचीन सब मतों का नये ढंग से खण्डन करना आरम्भ किया।

सेक्स्टस् एम्पिरिकस् और एनेसीडिमस्—जैसे पित्तोपहत मनुष्य को सब पीला ही सूझता है, वैसे ही इन्द्रियों की रचना में भेद होने के कारण सम्भव है कि प्रत्येक जन्तु को भिन्न रूप का संसार देख पड़े। एक ही वस्तु, स्त्री आदि, से किसी को सुख, दूसरे को दुःख आदि होने से स्पष्ट विदित होता है कि सब लोग एक वस्तु को एक ही दृष्टि से नहीं देखते। एक ही वस्तु एक इन्द्रिय को सुख और दूसरी इन्द्रिय को दुःख देती है। जैसे, जो पत्थर आँख को अच्छे रंग का देख पड़ता है, वही हाथ को रूखा मालूम हो सकता है। जब कि एक ही वस्तु (नारंगी) चिकनी, मीठी, लाल, गोल आदि अनेक धर्मों से युक्त विदित होती है, तो सम्भव है कि या तो वह वस्तु शुद्ध एकधर्मक हो और इन्द्रियों पर उसका भिन्न-भिन्न असर इन्द्रियों के धर्म-भेद से पड़ता हो या उसके वस्तुतः उतने ही गुण हों, जैसी कि वह जान पड़ती है या एक तीसरी ही बात ठीक हो कि जितने गुण उस वस्तु के हमलोग पाते हैं, उनसे कहीं अधिक गुण उनमें हों, पर उन गुणों के ग्रहण करने के योग्य इन्द्रिय हमें नहीं, है इससे उन गुणों को हम नहीं अनुभव कर सकते और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हमें होने के कारण रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द पाँच ही गुणों का हम अनुभव करते हैं। अवस्था और सम्बन्ध के भेद से एक ही व्यक्ति को एक ही वस्तु भिन्न जान पड़ती है। घी साधारणतः अच्छा लगता है, पर बीमारी में तीता लगता है। दूर से वस्तु छोटी और समीप से बड़ी देख पड़ती है, जवानी में जो विषय अच्छे लगते हैं, सो बुढ़ापे में नहीं। किसी वस्तु के शुद्ध अपने गुण पृथक् नहीं मिलते, या तो देखनेवाले के शरीर के गुणों से या आस-पास की वस्तुओं के गुणों से मिले हुए अनुभव में आते हैं। एक ही वस्तु का तौल पानी में हल्का

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

और हवा में भारी होता हैं। बुद्धिमान् के बुद्धिगुण से जो चीज जान पड़ती है, वैसी वही चीज मूर्ख को नहीं जान पड़ती। इसी प्रकार देश, आचार, अभ्यास आदि के भेद से जो एक पुरुष को अच्छा मालूम होता है, वही दूसरे को बुरा मालूम होता है, जो एक को धर्म जान पड़ता है, वही दूसरे के लिए अधर्म है। रोम का लम्बा चोगा, ग्रीसवालों को बुरा देख पड़ता है और एक देश को मूर्तिपूजा और हिंसापूर्ण यज्ञ धर्म-सा और दूसरे देश को अधर्म-सा देख पड़ता है। इन कारणों से यह स्पष्ट विदित होता है कि वस्तु का स्वरूप क्या है, यह हम कभी नहीं जान सकते। हमें वह वस्तु अपनी इन्द्रिय-रचना, शिक्षा-प्रणाली आदि के अनुसार कैसी देख पड़ती है, इतना ही हम कह सकते हैं।

इस प्रकार, ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष और तत्प्रयोज्यज्ञान का खण्डन कर एनेसीडिमस ने कारणता का भी खण्डन किया। कार्य-कारण भाव या तो दो मूर्त्त पदार्थों में या दो अमूर्त्त पदार्थों में या एक मूर्त्त और एक अमूर्त्त पदार्थ में रह सकता है। तब एक मूर्त्त पदार्थ से दो कैसे हो जा सकते हैं, इसका सम्भव नहीं है। अमूर्त्त से अमूर्त यदि हो भी सके, तो उससे इस मूर्त्त संसार की सिद्धि नहीं होती। अमूर्त्त से मूर्त्त या मूर्त्त से अमूर्त्त की उत्पत्ति मानना भी संगत नहीं होता। क्योंकि, अमूर्त और मूर्त्त को कोई संसर्ग हो नहीं सकता। इसके अतिरिक्त यह भी आपत्ति है कि कारण के गुणों से विरुद्ध गुण कार्य में तो हो ही नहीं सकते; क्योंकि ऐसा होता, तो पशु से चिड़िया, बालू से तेल आदि भी उत्पन्न हो सकता और यदि मूर्त्त और अमूर्त्त के बीच कार्य-कारण-भाव मानें, तो विरुद्ध गुण की उत्पत्ति आ पड़ती है। इसलिए कार्य-कारण-भाव सर्वथा विरोधग्रस्त है और मानने के योग्य नहीं है। केवल इतना ही नहीं, और भी अनेक विरोध कार्य-कारण भाव के मानने पड़ते हैं। एक समान वस्तु से दो समान वस्तुएँ हो नहीं सकतीं और असमान से असमान की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती, ऐसा अभी कहा गया है। यह एक विरोध हुआ। दूसरा विरोध यह है कि कार्य से कारण पहले रहता है या उसके साथ रहता है या उसके बाद आता है। यदि कारण पहले और कार्य पीछे हो, तो जबतक कारण है, तबतक कार्य नहीं, जब कार्य आया, तो कारण नहीं है। तो दोनो में सम्बन्ध ही कहाँ है कि एक कार्य और दूसरा कारण होगा। कार्य कारण, दोनों एक साथ मानें, तो कौन कार्य, कौन कारण, इसका निर्णय होना दुर्घट होगा। कार्य के बाद कारण मानें, तो वह बौड़हे की बकवाद-सा जान पड़ता है। क्योंकि, बेटे के बाद कहीं भला बाप का जन्म होता है! तीसरा विरोध यह है कि कारण क्या स्वतन्त्र ही कार्योत्पादक होता है या किसी अन्य वस्तु द्वारा। यदि कारण स्वतन्त्र कार्यकारक हो, तो सदा कार्य होता रहना चाहिए, जैसा कि देखने में नहीं आता, और यदि अन्य वस्तुओं की सहायता की अपेक्षा है, तो ये वस्तुएँ भी कारण हुईं और इन दूसरे कारणों को किसी तीसरी की अपेक्षा होगी, तीसरे को चौथे की, बस कहीं ठिकाना ही नहीं लगेगा और बड़ी भारी अनवस्था होगी। चौथा विरोध कार्य-कारण-भाव में यह पड़ता है कि कारण के अनेक गुण हैं या एक। यदि एक गुण कहें, तो अग्नि से कभी चावल पकता है, कभी जल जाता है, ये दो कार्य कैसे एक ही चीज से हो सकते हैं। यदि अनेक कहें, तो एक ही काल में अग्नि से

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

पकाना, जलाना आदि अनेक कार्यों की उत्पत्ति क्यों नहीं होती। अन्ततः, पंचम विरोध पड़ता है कि मृत्तिका से घट, पानी से बर्फ, चावल से भात हो जाता है, ऐसा जो कहते हैं, उनकी उक्ति सर्वथा असंगत है; क्योंकि एक वस्तु में अनेक विरुद्ध धर्म तो हो नहीं सकते, इसलिए जो पिघला हुआ है, सो कड़ा नहीं हो सकता, जो कड़ा है, सो पिघल नहीं सकता, अर्थात् कड़े चावल का नरम भात, या द्रव रूप जल का कठिन बर्फ कभी नहीं हो सकता, इसलिए कार्य-कारण का भाव मानना सर्वथा असंगत है।

एनेसीडिमस के अनुगामी बहुत से दार्शनिक हुए। पर सबसे अन्तिम और महा-वैज्ञानिक सेक्सटस् एम्पिरिकस हुआ। यह अलेक्जाण्ड्रिया नगर में रहता था। वहाँ, दर्शन की दुर्बल अवस्था देख, लोग गणित, विज्ञान आदि की ओर प्रवृत्त थे। पर सेक्सटस् ने प्रतिपादन किया कि न केवल दार्शनिक सिद्धान्त ही, किन्तु गणित, विज्ञान आदि के भी सिद्धान्त वैसे ही विरोध और संशय से ग्रस्त थे। रेखागणित बड़ा पक्का शास्त्र समझा जाता है, पर बिन्दु की स्थिति इस शास्त्र में मान और उसको साथ-ही-साथ आयामहीन भी कहते हैं। भला जिसका आयाम नहीं, उसकी तो मन में कल्पना भी नहीं हो सकती, संसार में कहाँ से कहीं स्थिति हो सकती। ऐसी ही रेखा को दीर्घ मानते हैं, पर दीर्घताहीन बिन्दुओं से रेखा बनी है यह भी मानते हैं। भला एक अन्धा नहीं देख सकता, तो क्या सौ अन्धे मिल जायँ, तो कभी उनमें दृष्टि-शक्ति आ सकती है। कभी नहीं। वैसे ही यदि एक बिन्दु सर्वथा आयाम-हीन है, तो उन बिन्दुओं का समूह, रूपरेखा, में या रेखासमूह, समतल, में कैसे आयाम आ सकता है। इसलिए, गणित-विज्ञान आदि की भी वही दशा है, जो दर्शन की।

अन्ततः, संशयवादी यहाँतक संशय में पड़े कि संशय है सभी विषयों में या निश्चय है, इसको भी वे ठीक नहीं कह सकते थे और इनकी कुकल्पनाओं में मनुष्यों की श्रद्धा घटने लगी।

इस प्रकार, संशयवाद से सब दर्शन का लोप होने पर प्रकृति-शास्त्र की वृद्धि होने लगी। इतस्ततः पीथागोरस के नये अनुयायियों ने ज्योतिष का अध्यापन आरम्भ किया और वैज्ञानिक गेलेन आदिकों ने विज्ञान की शाखाओं का प्रचार किया, जिसका विस्तृत वर्णन दार्शनिक इतिहास में नहीं हो सकता। ईजीप्ट के नये महानगर अलेक्जाण्ड्रिया में सब विद्याओं का एकत्र होना आरम्भ हुआ। यहाँ सात लाख पुस्तकों की एक पुस्तक-शाला थी। संसार के अनेक दार्शनिक और वैज्ञानिक हिन्दुस्तानी, यहूदी, रोमन, ग्रीक—सब यहाँ आया करते थे। यहाँ ग्रीक दर्शन की वृद्धावस्था की अन्तिम तीन सन्तानें उत्पन्न हुईं— (१) पीथागोरस के नये अनुगामी, (२) यहूदी धर्म और ग्रीक दर्शन के योग करनेवाले और (३) प्लेटो के नये अनुयायी। अब यहाँ इन तीनों का संक्षिप्त वृत्तान्त देकर ग्रीक, अर्थात् प्राचीन दर्शन समाप्त किया जायगा।

इस समय जो पीथागोरस के नये अनुयायी हुए, उनमें किसी नये विचार का आरम्भ नहीं हुआ। इनको संग्रहवादी समझना चाहिए। पीथागोरस, प्लेटो, अरिस्टाट्ल,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

इन तीनों की दार्शनिक बातों को मिलाकर कुछ ख्रीष्ट धर्मपुस्तकों की बातों को भी मिला-जुलाकर किसी प्रकार इन लोगों ने नष्ट होते हुए ग्रीक दर्शन को कुछ दिन तक सँहाल रक्खा। प्लुटार्क नामक प्रसिद्ध इतिहासकार विद्वान् इन्हीं का अनुयायी था। प्लुटार्क के मत से, मनुष्य की ज्ञानशक्ति अत्यन्त क्षुद्र है। कभी-कभी करुणामय ईश्वर साक्षात् ज्ञानों को प्रकाश कर मनुष्य के हृदय को अज्ञान से बचाता है। जो लोग शान्त रहते हैं, बहुत छटपटाते नहीं, उन्हीं के ऊपर यह कृपा परमेश्वर की होती है। संसार में जितने देव पूजे जाते हैं, वे ईश्वर ही हैं, केवल नाम का भेद है। दर्शन के इतिहासकारों ने बहुत-से ऐसे-ऐसे विचार इस प्रकरण में दिये हैं, जिनमें कोई नई बात नहीं है, इसलिए यहाँ इसका विशेष विवरण नहीं किया जाता।

फाइलो—यहूदी फाइलो अलेक्जारिड्रया नगर का दार्शनिक था। यह ग्रीस-दर्शन का पूर्ण तत्त्ववेता था, तथापि ख्रीष्ट के पहले यहूदी धर्म की जो पुस्तकें संगृहीत हुई थीं, उनमें इसकी बड़ी श्रद्धा थी। इन पुस्तकों को यह ईश्वर से प्रकाशित समझता था। इसने ग्रीक दर्शन को यहूदी धर्मशास्त्र से अच्छी तरह मिलाया। यद्यपि कई और दार्शनिकों ने ऐसा प्रयत्न किया था, पर वे फाइलो के सदृश न हुए।

फाइलो के मत से, ईश्वर अनिर्वचनीय, निर्गुण और सर्वथा पूर्णस्वरूप है। क्या वस्तु ईश्वर है, यह हम लोग कभी नहीं जान सकते। ईश्वर की सत्तामात्र मनुष्य जान सकता है। इसीलिए ईश्वर का नाम येहोवा, अर्थात् सत् है। ईश्वर सर्वशक्तिमान् और सबका आदि कारण है। महत्तत्व ईश्वर की प्रथम सृष्टि है। इसी महत् (Logos) के द्वारा ईश्वर सब संसार को बनाता है। इस महत् के बाद क्रम से देव, दानव आदि हुए। जड़ प्रकृति सब सांसारिक दुःख का कारण है। इसी अज्ञ जड़ प्रकृति से महत् के द्वारा ईश्वर ने जगत् बनाया। अज्ञानमूलक आत्मा का बन्धन है। शुद्ध ज्ञानी आत्मा अशरीर और मुक्त हो जाता है। पर, अज्ञों की आत्मा अशुद्धि को जन्मान्तरों में हटाने के लिए अनेक शरीर धारण करती है। आत्मा स्वतन्त्र है, चाहे तो शरीर बन्धन को तोड़ सकती है, पर शरीर के सम्बन्ध में इसका पाप में प्रवृत्ति होती रहती है, जिसके कारण बन्धन नहीं छूटता। सबों के ऊपर, मुक्ति का उपाय ईश्वर में श्रद्धा है। जिसको ईश्वर में विश्वास है, वही मुक्त हो सकता है। जब संसार से छूटते-छूटते मनुष्य महत् Logos) के भी पार पहुँचता है, तब ईश्वर मिलते हैं और मुक्ति होती है।

इस रीति से ग्रीक दर्शन अन्ततः यहूदी धर्म से मिश्रित हुआ। ग्रीक दर्शन के अन्तिम लेखक प्लोटिनस आदि के मतों में बहुत-सी पूर्वदेश की धर्म-सम्बन्धी बातें पाई जाती हैं। प्लेटो के दर्शन को नवीन जीवन प्लोटिनस ने दिया। इसकी शिक्षाओं का प्रचार रोम में हुआ, जहाँ इसकी एक पाठशाला थी। इस समय का रोम का सम्राट् गैलियेनस् इसे बहुत मानता था। आचार, विद्या आदि गुणों से अपने समय के सर्वसाधारण में भी इसकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। इसके ग्रन्थ इसकी मृत्यु के बाद इसके शिष्य पर्फेरो ने प्रकाशित किये।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्लोटिनस और उनके अनुगामी—प्लोटिनस के दर्शन का उत्थान ईश्वर से है और कैवल्य-मुक्ति, अर्थात् ईश्वर-स्वरूप हो जाना ही इसका उद्देश्य है। इसलिए ईश्वर का स्वरूप, संसार का ईश्वर से आविर्भाव, इस संसार का ईश्वर में लय और मुक्ति का स्वरूप, ये चार मुख्य विषय प्लोटिनस के प्रतिपाद्य हैं। कार्य से कारण और प्रमेय से प्रमाता अवश्य भिन्न है। इसलिए ईश्वर अप्रमेय, अनन्त, निराकार और अनिर्वचनीय है; क्योंकि प्रमेय साकार आदि पदार्थ तो उसके कार्य हैं। अशरीर अमनस्क कृति और विकृति से रहित परमेश्वर है। सब भेद, ज्ञाता, ज्ञेय आदि रूप सांसारिक हैं। अद्वितीय संसार से परमेश्वर में ये भेद सम्भाव्य नहीं हैं। ज्ञान, इच्छा, सुख आदि कारण बाह्य वस्तु है, पर एक अद्वितीय ईश्वर के समीप बाह्य वस्तु की सत्ता और अपेक्षा नहीं है, इसलिए ये धर्म ईश्वर में नहीं हो सकते। शुद्ध निराकार सत् और असत् दोनों से, पर प्रमाण और प्रमेय से अतिरिक्त, ईश्वर का उत्पादन पहले-पहल प्लोटिनस ने यूरोप में किया। प्लोटिनस के मत से ईश्वर के कोई गुण या उसकी परिभाषा नहीं दी जा सकती, केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह सब विकारों से रहित, सब प्रमेयों से भिन्न है।

जैसे पूर्ण समुद्र की लाखों तरंगें हैं और जैसे प्रकाशमय सूर्य की असंख्य किरणें हैं, वैसे ही ईश्वर की यह सब सृष्टि है। वस्तुतः सृष्टि क्यों हुई और इसका ईश्वर से क्या सम्बन्ध है, यह कहा नहीं जा सकता। सृष्टि को ईश्वर की छाया या प्रतिबिम्ब समझना चाहिए। महत् (Logos) ईश्वर की प्रथम सृष्टि है। इस महत् से जीवात्मा आदि का आविर्भाव प्लोटिनस ने बताया है। आत्मा स्वभाव ही से ज्ञानमयी है। इस संसार से आत्मा का सम्बन्ध काल्पनिक है, इस कारण इन्द्रियार्थों के बन्धन से छूटकर ज्ञानमय जीवन बिताना ही आत्मा के लिए परम सुख है। चित्तशुद्धि (Katharsis) मुक्ति का प्रथम उपाय है। सामाजिक, नैतिक आदि कर्म अपरिहार्य हैं। शारीरिक कर्म सबको करना ही पड़ता है। बाह्य प्रत्यक्ष से वस्तु की छायामात्र विदित होती है। तर्क से कुछ वस्तु का और अधिक परिचय होता है। पर बाह्य प्रत्यक्ष और तर्क, दोनों ही से बढ़कर आन्तर अनुभव (Immediate intuition) है। यह आन्तर अनुभव या ध्यान केवल महत् तक पहुंचा सकता है। इसके भी ऊपर समाधि (Extasis) की अवस्था है, जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद सर्वथा लुप्त हो जाता है। इसी को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं, जिसमें पहुंचने पर दिव्य ज्ञान की ज्योति स्वयं प्रकाशित हो जाती है।

प्लोटिनस के शिष्यों में मैल्कस पर्फेरी मुख्य था। इसकी जन्मभूमि फिनिशिया का टायर नगर था। धर्म, तप, यम, नियम आदि से चित्त को शुद्ध कर समाधि या तुरीय अवस्था में पहुंचकर मुक्त होना, पर्फेरी के अनुसार, मनुष्य का परम उद्देश्य है। यह स्वतन्त्र विचार का दार्शनिक नहीं था। प्लोटिनस के ग्रन्थों का प्रकाशन और व्याख्यान इसके मुख्य कार्य थे।

कैल्किस का दार्शनिक आयैम्बिलकस पर्फेरी का शिष्य था। इसने ईजीप्ट आदि पूर्व देशों से देववाद की शिक्षा पाई। तीन सौ साठ देवता, अनेक देवदूत, अनेक असुर आदि मनुष्यों की सहायतार्थ संसार में हैं, ऐसा यह समझता था।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

कुस्तुन्तुनियाँ का प्रोक्लस प्लोटिनस के दर्शन का अन्तिम व्याख्याता हुआ। यह धार्मिक और तपस्वी था। सर्ग, स्थिति और प्रलय, ये तीन व्यापार संसार में मुख्य हैं। ईश्वर से महत् का आविर्भाव है, जिसके तीन गुण हैं—दिव्य, मर्त्य और आसुर (सत्व, रजस् और तमस्)। जिसपर परमेश्वर की कृपा होती है, उसकी मुक्ति हो सकती है। बुद्धि से ईश्वर तक कोई नहीं पहुँच सकता; क्योंकि ईश्वर अप्रमेय और बुद्धि के अगोचर है।

प्रोक्लस प्रायः अन्तिम ग्रीक दार्शनिक था। इसके बाद ग्रीक दर्शन का सर्वथा लोप हुआ और अन्ततः रोम के सम्राट् जस्टिनियन की आज्ञा से एथेन्स की दार्शनिक पाठशाला बन्द कर दी गई। जस्टिनियन के दो सौ वर्ष पहले ही कान्स्टेंटाइन के समय में रोम के साम्राज्य-भर में खीष्ट मत का प्रचार हो चुका था। इस समय से शुद्ध दर्शन में श्रद्धा घटने लगी और धीरे-धीरे दर्शन धर्म की सेवा में जितना उपयुक्त है, उतना ही बच गया। धर्म और दर्शन का खीष्ट मतानुगामियों में कैसा प्रचार हुआ, यह सब आगे दिखाया जायगा।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

KATHMANDU

मध्य समय का दर्शन

प्रथम अध्याय

ग्रीक-दर्शन का बाइबिल के धर्म से जब समागम हुआ, तो धीरे-धीरे स्वतन्त्र दर्शन सर्वथा लुप्त होकर केवल धार्मिक विषयों में जितने दर्शन की अपेक्षा है, उतना खीष्ट-मत के प्रचारक अगस्टिन आदिकों के उपदेशों में सुरक्षित रहा।

अगस्टिन—यद्यपि प्राचीन खीष्ट-मतोपदेशकों में क्लिमेएट, ओरिजेन, एथेनेसियस आदि अनेक दार्शनिक हुए, तथापि इस समय के दर्शन का सारांश अगस्टिन के उपदेशों से विदित हो जायगा। इसलिए अगस्टिन के पहले के दार्शनिकों को यहाँ छोड़ दिया जाता है। न्युमिडिया में अगस्टिन का जन्म हुआ था। पहिली अवस्था में अनेक दुर्व्यसनों में यह लगा रहा, फिर रोम आदि नगरों से घूमते-घूमते दैवात् बाइबिल के धर्म पर इसकी श्रद्धा हुई; तब से धार्मिक जीवन में यह रहा। बहुत समय तक हिप्पो नामक स्थान में यह धर्मनेता (Bishop) भी रहा; वहीं इसके मुख्य ग्रन्थ लिखे गये। अपराध-स्वीकार (Confessions) और दिव्यनगर (City of God) इसके प्रधान ग्रन्थ हैं।

संशयवादियों के संशय से बचने के लिए सर्वथा निश्चित कोई मूल निकालकर वहाँ से दर्शन के विचारों का आरम्भ करना इसका उद्देश्य था। सभी बातों का संशय हो सकता है, पर प्रमाता, अर्थात् जाननेवाला मैं हूँ, इसमें तो कोई सन्देह नहीं है। अब इस आत्मनिश्चय में चार अंग हैं—सत्ता, जीवन, संवेदन और ज्ञान। इस ज्ञान में दिव्य वस्तु का भास होता है; क्योंकि यह ज्ञान बाह्य नश्वर वस्तुओं का धर्म नहीं हो सकता। तो इस प्रकार आत्मनिश्चय के द्वारा मनुष्य अपने ज्ञान को ईश्वर से अभिन्न निश्चय कर सकता है। इसलिए आत्मविश्वास होने हो से ईश्वर में भी विश्वास अवश्य होता है। निर्गुण, निरुपाधिक, देशकालातीत ईश्वर सर्वथा अनिर्वचनीय है। ईश्वर को कितने लोग द्रव्य मानते हैं, यह अनुचित है; क्योंकि द्रव्य तो गुण और क्रिया का आश्रय होता है और ईश्वर निर्गुण है। ईश्वर किन वस्तुओं से भिन्न है, इस प्रकार नेति-नेति बताकर ईश्वर को सत्ता-मात्र कहा जा सकता है। पर, ईश्वर का क्या स्वरूप है, यह नहीं कहा जा सकता। खिष्टानुसारियों के अनुसार ईश्वर त्रयात्मक है, याने उसके तीन रूप हैं—सत्, चित् और आनन्द। संसार सत् और असत् दोनों से बना है, अर्थात्, सत्स्वरूप ईश्वर ने असत् से इसे बनाया है। मनुष्य को स्वातन्त्र्य नहीं है, ईश्वर की कृपा के अधीन सब मनुष्य हैं। जिस पर कृपा होती है, उसीका उद्धार होता है। जिसके हृदय में परमेश्वर भक्ति का प्रकाश अपनी करुणा से करते हैं, वही श्रद्धा के द्वारा मुक्त होता है, अन्यथा अश्रद्धा और नास्तिकता में पड़कर जन्तु नष्ट हो जाता है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्कोटस एरिजेना—अगस्टिन ने भक्तों को जो ज्ञान स्वयं प्रकाश होता है, उसे बुद्धिग्राह्य और शिक्षायोग्य बनाया और उसके बाद भक्ति और ज्ञान का ऐक्यरूप अति विस्तृत दर्शन चला। स्कोटस एरिजेना (जिसके जन्मस्थान का ठीक पता नहीं है) एक ग्रीस-भाषा जाननेवाला बड़ा विद्वान् था। खल्वाट चार्ल्स (Charls the Bald) ने इसे अपने देश फ्रान्स में बुलाया और देशों में राजाओं से इसकी मुलाकात थी। इसके मत से विवेक, अर्थात् ज्ञान और धर्म या भक्ति एक है। जिस बात का ग्रहण भक्ति से स्वयं होता है, उसी का प्रमाण ज्ञान से दिया जाता है। विवेक-शक्ति सब मनुष्यों में एकरूप ईश्वर ने दी है। इसके द्वारा अर्थ और अनर्थ का सब कोई निश्चय कर ले सकते हैं। समस्त पदार्थों के चार विभाग हैं—(१) अकार्य कारण, (२) कार्यकारण, (३) कार्य-अकारण, (४) अकार्य-अकारण।*

ईश्वर कार्य नहीं है, पर सबका कारण है। बुद्धि, प्राण, सुख आदि ईश्वर के कार्य हैं और वे स्वयं भी समस्त अन्य वस्तुओं के कारण हैं। पृथक् व्यक्ति केवल कार्य है, कारण नहीं। फिर समस्त संसार जहाँ लौट जाता है, वह ईश्वर न कार्य है, न कारण। इस प्रकार यह देखा जाता है कि प्रथम और चतुर्थ, दोनों एक ही वस्तु हैं। सृष्टिकार्य को देखा जाय, तो ईश्वर प्रथम, अर्थात् अकार्य-कारण है और लय को देखा जाय, तो अकार्य-अकारण है। दुःख कोई वस्तु नहीं है, सुख के अभाव को दुःख कहते हैं। ईश्वर से वैमुख्य के कारण मनुष्य की आत्मा दुःख में पड़ी है। ईश्वर के ज्ञान से बढ़कर धर्म नहीं है। ईश्वर का ज्ञान होने ही से मनुष्य की गति हो जाती है। ईश्वर के यहाँ पहुँचने पर मनुष्य की आत्मा ईश्वर में मिल नहीं जाती है, केवल पूर्ण ज्ञानमय होकर सुखी हो जाती है।

एन्सेलम—एरिजेना के बाद विरेंगर विलियम आदि बहुतेरे दार्शनिक हुए। पर इन सबों में नये विचारवाला एन्सेलम था, जिसके दर्शन का प्रभाव यूरोप के दर्शन पर बड़ा भारी है। लोम्बार्डी के एक अच्छे वंश में एन्सेलम का जन्म हुआ। इसने धार्मिक शिक्षा समयानुसार पाई। यूरोप की प्राचीन धर्म-पुस्तकों में जो तत्त्व दिये हैं, उनको शुद्ध युक्तियों से उपपादन करना इसका मुख्य उद्देश्य था। प्लेटो ने जैसा दिखलाया है कि सामान्य प्रत्यय वास्तव है, उसी के रहने से व्यक्तियों की स्थिति है, वैसा ही एन्सेलम ने भी दिखाया है। जैसे सब गोव्यक्तियों में वर्तमान एक गोत्व है, फिर गो-महिष आदि में पशुत्व है, वैसे ही जाते-जाते सबसे बड़ा जो सामान्य, अर्थात् पूरी सत्ता है, वही ईश्वर है। जितना कार्य है, उसका कारण अवश्य होता है। यह कारण एक हो सकता है या अनेक। यदि एक है, तो ईश्वर सिद्ध हुआ। यदि अनेक है, तो तीन विकल्प हो सकते हैं। इन अनेक कारणों का यदि फिर एक कोई कारण है, तो ईश्वर की सिद्धि हुई। या, सब अनेक कारण स्वयम्भू हों,

*मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥

—सांख्यकारिका।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

तो इनमें जो स्वयं होने की शक्ति है, वह शक्ति एक हुई और वही ईश्वरवादियों का ईश्वर है। तीसरा विकल्प यह हो सकता है कि ये अनेक कारण परस्पराधीन हों, पर इस पक्ष में अन्योन्याश्रय दोष पड़ता है, इसलिए एक ईश्वर सब जगत् का कारण है, यह सिद्ध हुआ। यह ईश्वर स्वयम्भू पारमार्थिक परासक्त पराशक्ति है।

ईश्वर की सता का मुख्य प्रमाण एन्सेलम ने इस प्रकार दिया है। पूर्ण परमेश्वर का बोध मनुष्य को है, तो यदि ईश्वर असत् है, तो उसमें अपूर्णता आई। इसलिए, पूर्ण ईश्वर की सत्ता अवश्य है। इसी प्रमाण को Ontological argument कहते हैं। गानिलो आदि दार्शनिकों ने इस प्रमाण का खण्डन किया और दिखलाया कि वस्तु का बोध और वस्तु दोनों भिन्न हैं। दूध का समुद्र मनुष्य के मन में आ जाय, इसलिए इसकी बाह्य सत्ता कहना जैसे उन्माद है, वैसे ही ईश्वर की वास्तव सत्ता का मानस कल्पना से प्रमाण देना है।

अगस्टिन, एन्सेलम आदि मध्य समय के दार्शनिकों ने और बहुत-सी बातें खीष्ट-धर्म पर कहीं हैं, जिनको शुद्ध दर्शन के वृत्तान्त में कहने की आवश्यकता नहीं है।

अत्र सामान्य प्रत्ययों की ईश्वर आदि के उपपादन में इतनो आवश्यकता पड़ी कि दार्शनिकों में दो मत चले। कुछ लोग सामान्य प्रत्ययों को वास्तव और कुछ अवास्तव समझते थे। व्यक्तियों में गोत्व कोई एक पृथक् वस्तु है, जिसके रहने के कारण सब व्यक्ति गो शब्द से कहे जाते हैं—यह एक मत था और, दूसरे मत के अनुसार, व्यक्तियों से पृथक् कोई जाति वस्तु नहीं है। पहले मत को वस्तुवाद (Realism) कहते हैं, दूसरे मत को नामवाद (Nominalism) कहते हैं।

रोसेलिनस एक दार्शनिक था, जिसके मत से जाति पृथक् वस्तु नहीं है। पर एन्सेलम और विलियम के मत से जाति या सामान्य प्रत्यय पारमार्थिक वस्तु हैं।

इस झगड़े को किसी प्रकार एवेलर्ड नामक दार्शनिक ने तय किया। यह नामवादी या वस्तुवादी न था। यह मानसवादी (Conceplualist) था। इसके मत से जाति पृथक् वस्तु नहीं हैं। पर मानस स्थिति जाति की है। एवेलर्ड और ह्यू गो स्वतन्त्र विचार के दार्शनिक थे। धर्म के बन्धनों में व्यर्थ पड़ना इन्हें अभिमत नहीं था। जो ही ज्ञानवान् हो, उसी की मुक्ति ये लोग मानते थे। खीष्ट-मत के अवलम्बन बिना उद्धार नहीं होता, यह इनका मत नहीं था। ह्यू गो ने समयानुसार मन की शक्तियों का भी अन्वेषण किया। इसके मत से आत्मा की तीन शक्तियाँ हैं, शारीरिक, प्राण-सम्बन्धी और मानस। यकृत् में शारीरिक शक्ति है, जिसके द्वारा रुधिर आदि बनते हैं। हृदय में प्राणशक्ति है, जिससे रुधिर की गति नाड़ी आदि में होती है। मानस शक्ति मस्तिष्क में है, जिससे ज्ञान होता है।

इस समय दार्शनिकों में बहुत-से व्यर्थ प्रश्न उठे। इन्हीं प्रश्नों के उत्तर देने के प्रयत्नों में दार्शनिक अपना जीवन बिताते थे। पीटर दी लोम्बार्ड के लेखों में कुछ प्रश्न हैं, जिनसे इस समय के दार्शनिकों की प्रवृत्ति विदित हो जायगी।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

ईश्वर सृष्टि में स्वतन्त्र है या परतन्त्र। यदि स्वतन्त्र है, तो सृष्टि का ज्ञान उसे पहले से नहीं होगा; क्योंकि निश्चय हो नहीं है कि सृष्टि होगी कि नहीं। यदि पहले से ज्ञान है, तो उसी के अनुसार सृष्टि होगी; तो ईश्वर परतन्त्र हुआ।

सृष्टि के पहले ईश्वर कहाँ रहा; क्योंकि सब स्थान तो सृष्टि ही में हैं। ईश्वर की वर्तमान सृष्टि से उत्तम सृष्टि हो सकती है या नहीं। यदि नहीं हो सकती, तो ईश्वर सर्वशक्तिमान् नहीं है। यदि हो सकती है, तो वैसी ही उत्तम सृष्टि क्यों न बनाई गई?

देवताओं को शरीर है या नहीं। वे पाप करते हैं या नहीं। देवता या ईश्वर मनुष्यों को देख पड़ते हैं या नहीं। दिख पड़ते हैं, तो किस रूप में।

ऐसे-ऐसे काकदन्तपरीक्षाप्राय प्रश्नों के विचार इस समय होते थे।

इन दार्शनिकों ने किसी नई बात का विचार नहीं किया। इसलिए, यहाँ सबों के दर्शनों का विवरण न देकर इनमें से मुख्य तीन दार्शनिकों का कुछ वृतान्त दिया जाता है। ये तीन—टौमस्, डंस स्कोटस् और ओकम थे।

टौमस् ऐकिनस्—टौमस् एक डोमिनिक-सम्प्रदाय का साधु था। अरिस्टाटल के मत का पुनरुज्जीवन इसका मुख्य उद्देश था। इसके मत में भाव और अभाव दो पदार्थ हैं। गो, वृष आदि भाव हैं। दारिद्र्य आदि अभाव हैं। भाव पदार्थ के दो भेद हैं—द्रव्य और आकार (Matter and form)। ईश्वर शुद्ध आकार है। और, सब द्रव्य और आकार दोनों मिलाकर बने हैं। आकार वास्तव है और द्रव्य योग्यता-मात्र है।

जितना ही अपूर्ण आकार होगा, उतनी ही व्यक्तियों की संख्या अधिक होती है। जितनी ही पूर्णता अधिक होती है, उतनी ही व्यक्ति-संख्या कम होती है। ईश्वर पूर्णाकार है, इसलिए वह एक है।

ईश्वर के यहाँ सत्ता और ज्ञान एक है। मनुष्यों में सत्ता जिस वस्तु की रहती है, उसका ज्ञान होता है, अर्थात् सत्ता और ज्ञान भिन्न हैं, पर ईश्वर के यहाँ ये दोनों एक हैं। ईश्वर सत्य-स्वरूप है, इसलिए उसकी सत्ता में किसी को सन्देह नहीं होना चाहिए। दर्शन का प्रथम कार्य है ईश्वर का उपपादन। पर यदि अवतार लेकर ईश्वर ने मनुष्यों में अपने स्वरूप को प्रकाशित नहीं किया होता, तो मनुष्य की शक्ति कभी न थी कि स्वयं अपनी बुद्धि से इसे ईश्वर का पता लगे।

प्रकृति में एक द्रव्य दूसरे आकार में, फिर उस आकार से और पूर्ण आकार में पहुंचने का प्रयत्न करता रहता है। आधिभौतिक जीवन का उत्तमोत्तम रूप मनुष्य का शरीर है, जिसके बाद आध्यात्मिक जीवन का आरम्भ होता है।

यह संसार प्राकृत क्रियाओं में उत्तमोत्तम बना है। अब इससे उत्तम संसार नहीं हो सकता है। ईश्वर की कृति नित्य नियत एकरूप है, उसमें कोई बात अकस्मात् नहीं हो सकती। मनुष्य की इच्छा अच्छी ही वस्तु की ओर जाती है, पर उसकी इन्द्रियाँ बुरी वस्तुओं की ओर जाती हैं, इसी से पाप का आरम्भ होता है। नियति के अधीन सब हैं।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

पर नियति ईश्वरेच्छा-रूप है और ईश्वर विवेकवान् है, इ
पक्षपात से कोई कार्य नहीं होता है।

डंस स्कोटस्—डंस स्कोटस् नार्थम्बरलैण्ड का निवासी थ
साधु था और आक्सफोर्ड आदि प्रदेशों में अध्यापक था। दर्शनशास्त्र इसके समय तक फिर धर्मशास्त्र से स्वतन्त्र हो चला था, यहाँतक कि कितने विषयों में दोनों परस्पर विरुद्ध थे। इसके अनुसार शास्त्र-प्रमाण गौण है और तर्क मुख्य है। जो मनुष्य की बुद्धि से ठीक-ठीक निकले, वही शास्त्रों में भी हो, तो शास्त्र ठीक है। ईश्वर की इच्छा, टौमस् के अनुसार बुद्धि के अधीन है, अर्थात् स्वतन्त्र नहीं है, तो स्कोटस् के अनुसार, यह बात ठीक नहीं जान पड़ती; क्योंकि इस बात के अनुसार ईश्वर और मनुष्य सभी के अधीन हो जाते हैं। यदि कृतिशक्ति पराधीन है, तो पाप और पुण्य का भेद असम्भव है; क्योंकि मनुष्य अपनी इच्छा से तो कुछ कर नहीं सकता, बुद्धि के वश होकर जो चाहे सो करता है। बुद्धि के अधीन सब होने से ईश्वर की भी स्वतन्त्रता और सर्वशक्तिमता जाती रहती है, इसलिए इच्छा-शक्ति स्वतन्त्र है। ईश्वर की इच्छा से सृष्टि हुई। इस सृष्टि में जिसकी जैसी इच्छा होती है, वैसे कार्य होते हैं। यही निश्चय रखना चाहिए।

ओक्रम—ओकम डंस स्कोटस् का अनुगामी था। यह पक्का नामवादी था। जाति को कितने लोग पृथक् मानते हैं, पर जाति यदि पृथक् कोई वस्तु होती, तो एक काल में अनेक व्यक्तियों में, अर्थात् अनेक स्थानों में कैसे रहती। इसलिए, ओकम के अनुसार जाति केवल सदृश अनेक व्यक्तिगत धर्मों के समुदाय का नाममात्र है, व्यक्तियों से पृथक् कोई वस्तु नहीं है।

यदि जाति कोई वस्तु नहीं है, तो किसी शास्त्र का भी सम्भव नहीं है; क्योंकि व्यक्तियों से शास्त्रों का सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक शास्त्र, अपने विषय के व्यक्तियों में सामान्य धर्म क्या है, इसी बात को बतलाता है। तो यदि सामान्य धर्म कोई वस्तु नहीं है, तो उस विषय के शास्त्र भी असंगत हैं। धर्म और भक्ति, ये ही मनुष्य के उद्देश्य हैं और किसी बात की स्थिरता नहीं।

द्वितीय अध्याय

अब सोलहवीं शताब्दी में मध्य समय के शुष्क दर्शन से लोगों की श्रद्धा घटने लगी। राजर बेकन ने उत्प्रेक्षाओं से और कल्पनाओं से मनुष्य के चित्त को हटाकर प्रत्यक्ष-मूलक उपयोगी विज्ञानों में पहले ही से लगाया था। इधर इटली में प्राचीन विद्याओं का, विशेषत: ग्रीक-भाषा के ग्रन्थों का, अभ्यास आरम्भ हुआ। इससे भी मध्य समय के सूखे तर्कों से मनुष्य का चित्त हटा। गैलीलियो, कोपर्निकस आदि ज्योतिषियों ने पृथ्वी की गति,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

अन्य ग्रहों की गति आदि जो स्थिर को, उससे पदार्थ-विज्ञान की ओर मनुष्यों की श्रद्धा बढ़ी।*

ब्रूनो—जायोर्डेनो ब्रूनो नेप्लस का निवासी था। डोमिनिक-मत का साधु होकर यह देश-देश घूमता फिरता; अन्त में वेनिस नगर में धर्मपरीक्षा-सभा (Inquisition) की आज्ञा से यह कैद किया गया और जीता ही जला दिया गया।

ब्रूनो ने सूर्यकेन्द्रक ज्योतिष का अनुसरण किया। नक्षत्रों को यह अनेक सूर्य समझता था। पृथ्वी सूर्य के चारों ओर चलती है और ग्रहों में से एक है। संसार अनन्त है। इसमें असंख्य सूर्य हैं। दो अनन्त वस्तुओं की स्थिति नहीं हो सकती; क्योंकि एक दूसरे से अलग होगी, तो परस्पर दोनों का अन्त अवश्य ही रहेगा। संसार अनन्त है और ईश्वर को भी लोग अनन्त कहते हैं। इसलिए, ईश्वर संसार से अभिन्न है। संसार का उपपादन कारण (Immanent cause) ईश्वर है। जैसे मृत्तिका और घट अभिन्न हैं, वैसे ही संसार और ईश्वर अभिन्न हैं। ईश्वर सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान् है। उत्पत्ति और नाश आपेक्षिक वस्तुएँ हैं। सर्वथा न किसी नई चीज की उत्पत्ति है और न किसी वस्तु का सर्वथा नाश है। केवल सब वस्तुओं का अवस्थान्तर में परिणाम होता रहता है, जिससे उत्पत्ति और नाश देखनेवालों को मालूम पड़ता है। मूर्त्त और अमूर्त्त का भेद वास्तव नहीं है। एक ही वस्तु छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी हो सकती है। बीज से धान्य का वृक्ष, वृक्ष से अन्न, अन्न से रस, रस से रुधिर, रुधिर से वीर्य, वीर्य से गर्भ, गर्भ से शरीर, शरीर से मिट्टी होती है। फिर भी मिट्टी से बीज आदि क्रम से शरीर होता है। इसलिए, वास्तव द्रव्य जो सब परिणाम में रहते भी एक हैं, वह न मूर्त्त है, न अमूर्त्त है, वह कुछ अनिर्वचनीय है, जिसके नाना रूप हो सकते हैं। संसार में सभी वस्तुओं में एक प्रत्यक्ष शरीरांश है और कारण-शक्ति, अर्थात् आत्मा का अंश है। संपूर्ण संसार एक शरीर है, जिसकी आत्मा ईश्वर है। इस संसार में असंख्य वस्तुएँ शक्तिकेन्द्र-स्वरूप (Monads) वर्त्तमान हैं। ये शक्तिकेन्द्र सभी सजीव हैं। प्रत्येक केन्द्र में आन्तर और बाह्य, अर्थात् संकोच और प्रसार-रूप दो शक्तियों के द्वारा शरीर दृश्य होता है; संकोच-शक्ति से शक्तिकेन्द्र अपने ही अमूर्त रूप में रहता हुआ ज्ञानमय जीवन बिताता है।

कैम्पनेला—इटली का दूसरा दार्शनिक इस समय कैम्पेनेला नाम का हुआ। रोमन कैथोलिक धर्म के अधिष्ठाता पोप महाशय के अत्याचारों से कोई स्वतन्त्र विचार का पुरुष इस समय निर्भय नहीं रह सकता था। सत्ताईस बरस तक भयानक कैद भोग कर कैम्पेनेला नेप्लस में मरा।

कैम्पेनेला के मत से जबतक ज्ञानशक्ति की परीक्षा न कर ली जाय, तबतक किसी दार्शनिक सिद्धान्त को प्रकाश करना उचित नहीं है। ज्ञान के मूल दो हैं, प्रत्यक्ष और

*जैकब, बीम आदि की देवबुद्धि (Theosophy) दर्शन में ऐसी आवश्यक नहीं है, इसलिए उसका वृत्तान्त यहाँ नहीं दिया है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

तर्क, अर्थात्, बाह्य ज्ञान और आन्तर ज्ञान। बाह्य ज्ञान से जो वस्तु विदित होती है, वह वास्तव नहीं है, जैसा कि ग्रीस के संशयवादियों ने दिखाया है; क्योंकि वस्तुतः बाह्य पदार्थ हमारी ही इन्द्रियों में जो परिवर्त्तन होते हैं, उनके समूहरूप हैं। तथापि, तर्क से अर्थात् अन्तर ज्ञान से बाह्य वस्तु की स्थिति जान पड़ती है। आन्तर ज्ञान ज्ञाता और ज्ञाता से पृथक् ज्ञेय, अर्थात् अहम् और इदम् दोनों का पृथक् भान होता है। जिस बाह्य वस्तु का भान स्वाभाविक सभी को होता है, उसका यदि प्रमाण पूछा जाय, तो बाह्येन्द्रियजन्य ज्ञान से उसका उत्पादन नहीं हो सकता है, किन्तु आन्तर ज्ञान से बाह्य वस्तु की स्थिति का प्रमाण किया जा सकता है। क्योंकि, ज्ञाता कहाँतक स्वतन्त्र है और किन विषयों में बाह्य वस्तुओं के अधीन है, यह उसे स्वयं ज्ञात है। पर, इस आन्तर ज्ञान से भी वस्तुओं का पूर्ण ज्ञान नहीं होता है; क्योंकि ज्ञान की श्रेणियाँ हैं। ईश्वर का ज्ञान सर्वथा पूर्ण है। औरों का ज्ञान अपूर्ण है। पूर्ण ज्ञान की ओर ले जाना ही दर्शन का उद्देश्य है।

शक्ति, ज्ञान और प्रवृत्ति (सत्, चित्, आनन्द), ये तीन संसार की स्थिति के मूल हैं। संसार के आविर्भाव होने के लिए जिस वस्तु से आविर्भाव हुआ, उसमें शक्ति, अर्थात् सत्ता, जिसे उत्पन्न करना है, उसका बोध, अर्थात् चिति और उत्पत्ति की प्रवृत्ति, अर्थात् उत्पादन में आनन्द—इन तीनों की आवश्यकता है। इसलिए सच्चिदानन्दस्वरूप ईश्वर है, जिसमें संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय है। इसीलिए थोड़ी-बहुत सत्ता, ज्ञान और आनन्द निर्जीव, सजीव, सभी में अवस्थानुरूप वर्त्तमान है। असत्ता, अज्ञान और दुःख से भय, सत्ता, ज्ञान और अनेक से प्रीति सजीव, निर्जीव, सबमें स्वाभाविक है। इसीसे सबकी स्थिति है। यही धर्म है। सच्चिदानन्द की ओर प्रवृत्ति समस्त संसार की है; इसी को धर्म कहते हैं।

इधर इटली में कोपर्निकस आदि वैज्ञानिकों ने टौलेमी का भूकेन्द्रक ज्योतिष नष्ट कर नया सूर्यकेन्द्रक ज्योतिष सिद्धान्तित किया और दार्शनिक लोग ब्रूनो, कैम्पेनेला, कैसेंडी, प्लेटो, अरिस्टाटल आदि के प्राचीन दर्शनों का सारांश लेकर मध्य समय के सूखे दर्शनों की जड़ खोद रहे थे, उधर इंगलैण्ड में बेकन और हौब्स, फ्रान्स में डेकार्ट बड़े स्वतन्त्र विचार के दार्शनिक हुए, जिनके विचारों ने नये दर्शन का पूर्ण समारोह से आरम्भ किया।

फ्रैंसिस् बेकन—इंगलैण्ड में सूखी दार्शनिक कल्पनाओं में श्रद्धा कभी अधिक थी, तेरहवीं सदी में भी राजर बेकन अपने समय का बड़ा वैज्ञानिक था। सोलहवीं सदी में फ्रैंसिस बेकन तार्किक वैज्ञानिक और गद्यकवि हुआ। यह बहुत काल तक आंग्ल शासकों के यहाँ प्रतिष्ठित पदों पर था, पीछे अप्रतिष्ठा के कारण इसे पद छोड़ना पड़ा। अरिस्टाटल ने अनुमानप्रधान तर्कशास्त्र (Logic) लिखा था, जिसमें निश्चित व्याप्तियों से अनेक विशेष निर्णय हो सकते थे। सब मनुष्य मरते हैं, यह ज्ञान होने से साक्रटीज यदि मनुष्य था, तो अवश्य मर्त्य था, यह जानना सुलभ है। पर व्याप्तिग्रह (Induction) के क्या उपाय हैं, इस विषय पर अभी तक बहुत कम दृष्टि दी गई थी। अब अनुभव और

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

परीक्षा (Observation and experiment) के द्वारा व्याप्तिग्रह का साधन और उत्पादन, ये मुख्य उद्देश्य बेकन के थे। बेकन के नये तर्कशास्त्र (Novum Organum) में पहले-पहल परीक्षाप्रधान तर्क का प्रचार हुआ।

पुस्तकों के निरीक्षण से, प्राचीनों का अनुकरण करने से और मन की कल्पनाओं से किसी बात का यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता। आलस्य के कारण भाग्य मानकर सन्तोष करना, सुन्दरता की दृष्टि से स्वर्ग, अमृत आदि की कल्पना कर मन को बहलाना आदि वैज्ञानिक या दार्शनिकों का कार्य नहीं है।

मनुष्य के मन की तीन शक्तियाँ हैं—स्मृति, कल्पना और वास्तव ज्ञान। स्मृति के अधीन ऐतिहासिक शास्त्र हैं। कल्पना के अधीन कविता के विषय हैं। ज्ञान के अधीन दर्शन है, जिसके तीन विभाग हैं—धर्मशास्त्र, प्रकृतिशास्त्र और नरशास्त्र। देवता आदि के विषय धर्मशास्त्र के अन्तर्गत हैं। वैज्ञानिक विषय प्रकृतिशास्त्र में हैं और मनःशास्त्र आदि नरशास्त्र के विषय हैं।

उपदेशों के ऊपर विश्वास न रखकर एक नियम के लिए धीरे-धीरे अनेक प्रकार के उदाहरणों की परीक्षा कर उस नियम की यथार्थता या अयथार्थता का निर्णय करना मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य है। परीक्षा के अविषय जो वस्तुएँ हैं, उनके पीछे कभी नहीं पड़ना चाहिए। व्यर्थ सृष्टि, स्वर्ग, नरक आदि वस्तुओं की कल्पना करने बैठना और देव, देवदूत आदि के भरोसे रहकर अपना उद्योग छोड़ना मनुष्य के अज्ञान के फल हैं। जिन वस्तुओं में स्वतन्त्र विचार हो सके, उन्हीं वस्तुओं का अन्वेषण करना चाहिए।

हौब्स—बेकन के कुछ समय बाद इंगलैण्ड में हौब्स नामक दार्शनिक हुआ। यह नीति और आचार के विषयों का लेखक था।

कार्य से कारण का और कारण से कार्य का ज्ञान दर्शन का मुख्य कार्य है। यह उद्देश्य शुद्ध विचार करने से सिद्ध हो सकता है। विचार करना प्रत्ययों को जोड़ने और घटाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसलिए, उन्हीं वस्तुओं का विचार हो सकता है, जो सावयव, अर्थात् मूर्त हैं। क्योंकि, इन्हीं के अंशों का जोड़ना-घटाना हो सकता है। जो निरवयव अमूर्त वस्तु हैं, जैसे कि देव, देवदूत, आत्मा, ईश्वर आदि, वे दर्शन के विषय नहीं हैं। उनका ज्ञान भी नहीं हो सकता है। वे भक्तिशास्त्र के विषय हैं। दार्शनिकों को चाहिए कि भक्तों के लिए इन विषयों को छोड़ दें, स्वयं केवल मूर्त वस्तुओं में कार्य-कारण भाव की परीक्षा करें। परीक्षा के अविषय जो वस्तु हैं, उनका ज्ञान असम्भाव्य है। संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं—अकृत्रिम या प्राकृत और कृत्रिम या मानवाधीन। तर्कशास्त्र, पदार्थविज्ञान आदि के विषय अकृत्रिम हैं। आचारनीति आदि कृत्रिम विषय हैं, जो मनुष्य के अधीन हैं। संवेदन (Feeling) के अतिरिक्त कोई ज्ञान नहीं है। इन्द्रियों में जो परिणाम होता है उसीके अनुभव को संवेदन कहते हैं। स्मृति के द्वारा सब विचार होते हैं और स्मृति संवेदन का सातत्य रूप है। संवेदन में न कुछ इन्द्रियों से बाहर निकलकर बाह्य वस्तुओं में जाता है, न बाह्य वस्तुओं से कोई प्रतिबिम्ब निकलकर इन्द्रियों में आता है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

इन्द्रिय-परमाणुओं में परिणाम उत्पन्न होता है, जो नाड़ियों के द्वारा मस्तिष्क तक पहुँचता है। इसी से संवेदन होता है। शब्द, रूप, रस आदि केवल इन्द्रिय-विकार हैं; इन्द्रियों में आघात होता है और वही आघात प्रभा आदि के रूप में देख पड़ता है। प्रभा आदि कोई बाह्य वस्तु नहीं है। स्वनिष्ठ परिणामों को बाह्य करके दिखलाना इन्द्रियों का भ्रम है। केवल इन ऐन्द्रियक आघातों का कारण कुछ द्रव्य है, इतना ही कह सकते हैं। उस द्रव्य में रूप-रस आदि समझना केवल भ्रम है। केवल मस्तिष्क के परिणामों को आत्मा कहते हैं। अमूर्त आत्मा कोई पृथक् नहीं है।

मनुष्य और पशुओं में केवल श्रेणी का भेद है। वस्तुतः, दोनों ही काम, क्रोध आदि के अधीन हैं। दोनों ही प्रिय वस्तु की ओर जाते हैं और अप्रिय वस्तु से हटते हैं। पूर्णकारण-सामग्री (Sufficient Reason) जिस बात की आ पहुँचती है, वह अवश्य होती है, उसे मनुष्य रोक नहीं सकता है। अच्छा और बुरा कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। जिसे जो अच्छा लगे, सो अच्छा; जिसे जो बुरा लगे, सो बुरा। मनुष्यों ने अपनी रक्षा के लिए राजा बनाया है। उसे अपना स्वातन्त्र्य-समर्पण कर दिया है। नहीं तो दुर्बल को बली रहने न देता।

इस प्रकार, ब्रूनो आदि दार्शनिकों ने नये विचारों का आरम्भ किया, जिन विचारों का पूर्ण विकास डेकार्ट आदि के ग्रन्थों में हुआ, जैसा कि आगे दिखाया जायगा।

◉

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

आधुनिक समय का दर्शन

प्रथम अध्याय

डेकार्ट—फ्रान्स देश का विख्यात दार्शनिक और गणितज्ञ डेकार्ट टूरेन प्रान्त के 'हे' नामक नगर में उत्पन्न हुआ। जर्मनी आदि प्रदेशों में इसने कई युद्ध भी किये थे। दर्शन पर 'चिन्तन' (Meditations) आदि अनेक ग्रन्थ इसने लिखे। स्विडेन देश की रानी क्रिस्टिना इस विद्वान् को बहुत मानती थी। उसके बुलाने पर यह स्विडेन गया। वहीं इसका देहान्त हुआ। नवीन रेखागणित में इसने बहुत-से तत्त्वों का अन्वेषण किया और अपने समय के गणितज्ञों में इसने बड़ी प्रतिष्ठा पाई थी। रेखागणित की रीति से दार्शनिक तत्त्वों का अन्वेषण करना इसका मुख्य कार्य था। रेखागणित में जैसे स्वयं-सिद्ध, प्रमाणनिरपेक्ष जनप्रसिद्ध, थोड़ी-सी बातों से अनुमान के द्वारा बड़े-बडे तत्त्व सिद्ध किये जा सकते हैं, वैसे ही मनुष्य के चित्त में ज्ञान के जो स्पष्ट निर्विवाद अंश हैं, उनकी परीक्षा कर उनसे ईश्वर आदि बड़ी बातों का एक व्याप्तिग्रह के अनन्तर दूसरा व्याप्तिग्रह करते हुए साधन करना ही डेकार्ट के दर्शन का मुख्य उद्देश्य है। मनुष्य के शरीर का विज्ञान भी डेकार्ट को यथासम्भव परिचित था। इससे प्रत्यक्षानुभव से ज्ञान का कैसा सम्बन्ध है और शरीर पर मन का कार्य कहांतक निर्भर है इत्यादि विषयों का विचार यह अच्छी तरह कर सकता था। इसलिए, मानस विज्ञान की रीति (Psychological Method) और वैज्ञानिक रीति (Positive Method) का भी डेकार्ट आरम्भक समझा जाता है।

मनुष्य का ज्ञान प्रत्यक्ष और शब्द-प्रमाणों के अधीन है। शब्द-प्रमाण भी प्रत्यक्ष-मूलक ही है; क्योंकि कहनेवाला प्रत्यक्षानुभूत ही बात को कहेगा, नहीं तो उसकी बात यदि निर्मूल हो, तो कोई विश्वास नहीं करेगा। तो यदि सभी ज्ञान प्रत्यक्षमूलक है, और संशय-वादियों के तर्कों से और अपने अनुभव से भी यह देखा जाता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान विश्वास के योग्य नहीं है और एक ही प्रकार की वस्तु के, भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न रूप को दिखलाता है, तब किसी वस्तु का विश्वास करना उचित नहीं है। पर, पीरो आदि दार्शनिकों ने जैसे इसी संशय पर 'विश्राम किया, वैसे ही संशय तक रह जाना उचित नहीं है। यदि यह निश्चय हुआ कि मुझे संशय है, तो यह भी निश्चय है कि मैं सोचता हूँ; क्योंकि संशय करना एक प्रकार का सोच या विचार है। पर, जो वस्तु है ही नहीं, वह कैसे कुछ विचार कर सकती है। इसलिए यदि मैं विचार करता हूँ, तो मैं अवश्य हूँ। इससे यह निःसन्देह सिद्ध हुआ कि 'मैं हूँ'। 'मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ' (Cogito ergo sum) यही पहला प्रतिपाद्य डेकार्ट का है। अगेस्टिन ने भी यही प्रतिपादन किया था, पर डेकार्ट की रीति इस प्रतिपादन की कुछ विलक्षण और नये ढंग की है। 'मैं सोचता हूँ,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

इसलिए मैं हूँ' यह कोई अनुमान नहीं है। यह तो स्वयंसिद्ध है। इसका केवल विवरण हो सकता है, कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता।

इस प्रकार, जब यह स्वयंसिद्ध है कि मैं हूँ, तो ऐसे ही स्पष्ट रूप से जो कुछ मेरे विचार में हो या जो इस प्रतिपाद्य से निकले, उसके अतिरिक्त और किसी बात का विश्वास नहीं करना चाहिए। बाह्य वस्तुओं की स्थिति स्पष्ट नहीं विदित होती; क्योंकि तारों का छोटा-सा होना, उनका उदय, अस्त इत्यादि जैसे पृथ्वी की गति से और हम लोगों के अत्यन्त दूर रहने से जान पड़ता है—वस्तुतः, तारों का परिमाण, गति आदि वैसी नहीं, जैसी दीख पड़ती है। इसी प्रकार बाह्य वस्तुमात्र केवल भ्रम हो सकती है और बाह्य वस्तुओं में पहले ही विश्वास कर लेना उचित नहीं है। पहले-पहल आत्मस्थिति के अतिरिक्त और कोई बात निश्चित नहीं जान पड़ती।

पर, एक ज्ञान कुछ ऐसा विलक्षण है, जो कि आत्मातिरिक्त वस्तु का साधक है। मनुष्य को ईश्वर की स्थिति में विश्वास है। यह विश्वास कहाँ से आया। यदि कहें कि वाह्य वस्तुओं के सदृश ईश्वर भी मन की कल्पना या भ्रम है, तो ठीक नहीं; क्योंकि अनन्त अपरिच्छिन्न पूर्ण परमेश्वर को कल्पना सान्त परिच्छिन्न और अपूर्ण मन कैसे कर सकता है। यदि यह कहें कि मन में अशर्फियों की कल्पना होने से वस्तुतः अशर्फियाँ आ नहीं जातीं, वैसे ही मन में ईश्वर की कल्पना होने से वस्तुतः ईश्वर है या नहीं, कैसे जान पड़े, तो यह भी परीक्षा से कुतर्क ही ज्ञान होता है; क्योंकि ईश्वर पूर्ण है, ऐसा हमलोगों का ज्ञान है और पूर्णता में सता अन्तर्गत है। यदि मनुष्य को जिस ईश्वर का ज्ञान है, वह असत् हो, तो दूसरी सत् वस्तु उससे अधिक पूर्ण और उत्तम समझी जा सकती है। पर, ईश्वर शब्द का तो अर्थ ही सत् और पूर्ण है, इसलिए सत् और पूर्ण का ज्ञान होने से उनकी सत्ता सिद्ध नहीं हुई, यह कहना कुतर्क-मात्र है। ऐन्सेल्म ने भी यह बात दिखलाई है, पर उसके मत से हमारे ज्ञान के अधीन ईश्वर की स्थिति है, और डेकार्ट के मत से, ईश्वर की स्थिति के कारण हमें ईश्वर का ज्ञान है, यही दोनों मतों में भेद है।

अब इस प्रकार 'मैं हूँ और ईश्वर है' इन दो बातों के सिद्ध होने पर तीसरी बात एक और भी स्पष्ट सिद्ध होती है कि 'संसार मूर्त है'। ईश्वर ने हमें वस्तुओं का अनुभव दिया है। यदि किसी भूत-प्रेत ने संसार की स्थिति का विश्वास हमारे मन में दिया होता, तो उस विश्वास को माया वा भ्रम कह सकते। पर, पूर्ण परमात्मा जो स्वयं सद्रूप है, वह हमें भ्रमात्मक वस्तुओं में वास्तवता दिलाकर वंचित करे, यह कब सम्भव है। वंचना करना पूर्ण परमात्मा का धर्म कभी नहीं हो सकता; क्योंकि वंचना अपूर्णता का लक्षण है।

इन तीन वस्तुओं में (जो ऊपर सिद्ध हुई हैं) ईश्वर स्वतन्त्र वस्तु है। आत्मा और संसार भी गुणाश्रय हैं, इसलिए वस्तु कहे जा सकते हैं; पर उनकी स्थिति स्वतन्त्र नहीं है, ईश्वर के अधीन है। आत्मा का गुण ज्ञान है और बाह्य वस्तुमात्र (संसार) का गुण-विस्तार (Extension) है। संसार का धर्म-विस्तार है, इसलिए शून्य और अणु आदि परिमाणहीन वस्तुएँ अभावरूप हैं। इनकी स्थिति नहीं माननी चाहिए। इसी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रकार विस्तार का अन्त अचिन्तनीय है, इसलिए संसार का भी प्रदेश में परिच्छेद नहीं है। संसार अनन्त और निष्केन्द्र है और इसकी गति उत्केन्द्रक और केन्द्रापगामिनी (Eccentric Centrifugel) है। विस्तार के कारण वस्तुओं में गति होती है। सब प्रकार की गतियों का कारण स्थान-परिवर्त्तन है। अब यह गति कहाँ से हुई, इस बात का यदि अन्वेषण करें, तो देखते हैं कि अणु से अणु अंश सब मूर्त पदार्थों का विस्तृत मात्र है। उनमें आत्मा के सदृश कोई गति देनेवाली वस्तु भीतर नहीं है। इसलिए किसी बाह्य कारण से उनमें गति है, ऐसा अनुमान होता है। इसलिए, यह संसार एक यन्त्र-सा है, जिसमें प्रथम गति ईश्वर ने उत्पन्न की और उसी गति से यह चल रहा है।

ज्ञाता और ज्ञेय, अर्थात् आत्मा और मूर्त पदार्थों में सर्वथा भेद है। आत्मा सर्वथा निराकार है और बाह्य वस्तुएँ, सब साकार हैं। न शरीर में वस्तुतः आत्मा है और न आत्मा को शरीर है। शरीर नियति के अधीन है और आत्मा स्वतन्त्र है। वस्तुतः, आत्मा और शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसा किसी-किसी ग्रन्थ में डेकार्ट ने लिखा है। पर, अन्य स्थानों में उसने लिखा है कि आत्मा शरीरव्यापिनी है और विशेषतः ब्रह्मरन्ध्र या मस्तिष्करन्ध्र (Pineal gland) से सम्बन्ध रखती है। आत्मा की चिन्ताओं से पहले इसी रन्ध्र में गति उत्पन्न होती है। फिर, यह गति समस्त शरीर में प्राणों के द्वारा फैलती है। पहली दृष्टि से इन दोनों बातों में विरोध जान पड़ता है, पर डेकार्ट ने इस विरोध के परिहार के लिए यह कहा है कि शारीरिक और आत्मसम्बन्धी व्यापारों में केवल कालिक सम्बन्ध है, अर्थात्, शरीर के दबने आदि से आत्मा में सुख-दुःख और आत्मा की चिन्ताओं से शरीर की दुर्बलता आदि उत्तर काल में होती है, इतना ही है। शारीरिक और आत्मसम्बन्धी विषयों में कार्य-कारण-भाव नहीं है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि बाह्य वस्तुओं से आत्मा को सुख-दुःख नहीं होते, किन्तु उन वस्तुओं के ज्ञान से। और, वस्तु और वस्तुज्ञान दोनों परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, इसलिए वस्तुत; आत्मा और बाह्य वस्तु अत्यन्त भिन्न और परस्पर असम्बद्ध हैं, ऐसा ही मानना उचित है।

इस प्रकार, डेकार्ट ने शब्द-प्रमाण के ऊपर विश्वास का खण्डन कर युक्ति और तर्क का प्रमाण स्थापन किया। इसके मत पर धर्मवादियों की ओर से बड़े-बड़े विरोध चले, तथापि इसके लेख ऐसे युक्तियुक्त और हृदयग्राही थे कि बहुत लोगों ने इसका अनुसरण किया। डेकार्ट के अनुगामियों में मुख्य मेलेब्रांस और ज्यूलिक थे। डेकार्ट के दर्शन पर दो प्रश्न उठे। एक प्रश्न तो यह था कि आत्मा और शरीर या ज्ञाता और ज्ञेय यदि परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, तो उनमें क्या सम्बन्ध है कि जिससे आत्मा को शारीरिक विषयों का ज्ञान होता है। दूसरा प्रश्न यह है कि जीवात्मा को ईश्वर से क्या सम्बन्ध है। यदि ईश्वर सर्वज्ञ हैं और सर्वशक्तिमान् हैं, तो जीवात्मा स्वतन्त्र है या नहीं।

मेलेब्रांस और ज्यूलिक के मत से, जब-जब शरीर पर असर होने से आत्मा को

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

संवेदन या सुख-दुःख आदि होते हैं और जब-जब आत्मा की कृति-शक्ति से शरीर हिलता चलता है, तब-तब आत्मा और शरीर के बीच में पड़कर ईश्वर कार्य करता है। आत्म-संवेदन का शरीर और शारीरिक गति का आत्मा केवल समय-समय पर सहकारी कारण (Occasional Causes) हैं, वस्तुतः इस संवेदन और गति दोनों ही का कारण ईश्वर है। इसलिए, इन दार्शनिकों का मत अवसरवाद (Occasionalism) कहा जाता है। मेलेब्रांस कहता है कि ईश्वर ही हमलोगों के सब कार्यों का कर्त्ता है और ज्यूलिंक कहता है कि ईश्वर ही हमलोगों के ज्ञान का वास्तव ज्ञाता है। इन दोनों बातों को मिला दिया जाय, तो यह सिद्ध होता है कि ईश्वर ही वास्तव कर्त्ता और ज्ञाता है। जीव केवल काल्पनिक ज्ञाता और कर्त्ता समझा जाता है। जीव जब किसी वस्तु को देखता है, तब उसका उस बाह्य वस्तु से सम्बन्ध नहीं समझना चाहिए। वह (जीव) स्वयं ईश्वर का विशेष रूप है और ईश्वर में वर्त्तमान जो सब वस्तुओं का आदर्श है, उन्हें वह देखता है। बाह्य वस्तुओं का देखना भ्रम-मात्र है। इस प्रकार, जब ईश्वर ही कर्त्ता और ज्ञाता है, तब जीव की कृति-शक्ति में पृथक् स्वतन्त्रता भी भ्रम-मात्र है। वस्तुतः, जीव ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता।

स्पाइनोजा—बरुच स्पाइनोजा का जन्म ऐमस्टर्डम नगर में हुआ। यह यहूदी वंश का था। धर्म-ग्रन्थों के अभ्यास करने के बाद इसने स्वतन्त्र दार्शनिक विचार आरम्भ किया, जिससे इसके धर्मवालों ने इसे अपनी जाति से निकाल दिया। कई नगरों में घूमते-घूमते अन्ततः इसने हेग नगर में अपनी स्थिति की। स्वतन्त्रता के लिए, इसने, मिलने पर भी अध्यापक का पद नहीं स्वीकार किया और दूरबीन आदि यन्त्रों के लिए दर्पण बनाकर बेचने से अपने जीवन का निर्वाह किया। बड़ी दीन-हीन दशा में प्रायः ४५ वर्ष की अवस्था में स्पाइनोजा मरा। इसने बहुत-से ग्रन्थ लिखे। उनमें सबसे उत्तम 'रेखा-गणित की रीति से आचार का निरूपण'—(Ethica More Geometrica Demonstrata) नाम का ग्रन्थ समझा जाता है।

डेकार्ट के मत में जो विरोधाभास थे, उनको हटाकर तर्क से अविरुद्ध एक दर्शन का प्रचार करना स्पाइनोजा का मुख्य उद्देश्य था। जैसा रेखागणित में थोड़ी-सी परिभाषाओं से बड़े-बड़े साध्य उपपादित होते हैं, वैसे ही तीन मुख्य परिभाषाओं से दार्शनिक विषयों का उपपादन स्पाइनोजा ने किया है—(१) द्रव्य उसे कहते हैं, जो स्वतन्त्र, अर्थात् बिना और किसी वस्तु की सहायता से विचारों में आ सके। (२) धर्म उसे कहते हैं, जिसके रहने के कारण द्रव्य अपने स्वरूप पर रहता है। (३) प्रकार वह है, जो किसी द्रव्य का अवस्थान्तर हो, अर्थात् बिना द्रव्य के समझ में न आ सके। डेकार्ट ने भी वस्तुतः निरपेक्ष द्रव्य एक ही ईश्वर को माना था, पर सापेक्ष द्रव्य से उसने जीव और मूर्त्त पदार्थ को समझा था। इस प्रकार द्रव्य के सापेक्ष और निरपेक्ष दो भेद न मानकर शुद्ध निरपेक्ष ही द्रव्य मानना उचित है; क्योंकि निरपेक्षता ही द्रव्य का लक्षण है। इसलिए, वस्तुतः एक ही द्रव्य है, जो स्वयम्भू अपरि-

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

च्छिन्न और अद्वितीय है; क्योंकि यदि वह किसी दूसरी वस्तु से उत्पन्न किसी वस्तु से घिरा हुआ, या किसी के साथ रहता तो बिना उस द्वितीय वस्तु के उसका बोध न होता और सापेक्ष होने से उसकी द्रव्यता जाती रहती। इस स्वयम्भू अपरिच्छिन्न अद्वितीय द्रव्य के नाम में कोई विवाद नहीं है। जो चाहे इसे कहे, पर सामान्यतः ईश्वर शब्द से इसका बोध होता है। यह द्रव्य स्वतन्त्र है; क्योंकि इसको दूसरे की अपेक्षा नहीं है, पर अपने ही नियम या नियति के अधीन अवश्य है। ईश्वर का स्वातन्त्र्य यही है कि वह किसी दूसरे के नियमों के अधीन नहीं है। जो वस्तु स्वतन्त्र है, उसके कार्यों में आकस्मिकता और अन्यसापेक्षता दोनों ही सम्भव नहीं। इसलिए, अकस्मात् जो चाहे कर बैठना इसका नाम स्वातन्त्र्य नहीं समझना चाहिए। ईश्वर शाश्वत स्वतन्त्र और सद्रूप है। तार्किक और धार्मिकों ने जैसे इच्छा—ज्ञान—आदि विशिष्ट व्यक्ति-विशेष को ईश्वर समझ रक्खा है, वैसा वह नहीं है; क्योंकि ईश्वर तो सर्वगत जो सामान्य सत्ता है, वही है। उसे इच्छादि-विशिष्ट पुरुष मानना तो उसे परिच्छिन्न और अस्वतन्त्र बना देना है। ईश्वर संसार का कारण है, पर उसकी कारणता सामान्यकारणता के सदृश नहीं है। जिस प्रकार माधुर्य, श्वेतता आदि का कारण दूध है या वस्त्र का कारण तन्तु है, वैसे ही जगत् का कारण ईश्वर है, अर्थात् ईश्वर का विवर्त्त, न कि ईश्वर की सृष्टि यह जगत् है। ईश्वर जगत् का क्षणिक या बाह्य कारण नहीं है, किन्तु ईश्वर वह उपादान और वास्तव सत्ता है, जो संसार में व्याप्त है।

ईश्वर के अनन्त अपरिमित धर्म हैं, जिनमें से दो मनुष्य के ज्ञानगोचर हैं, एक तो विस्तार या आकार और दूसरा ज्ञान। पर यह विस्तार और ज्ञान, जिसके कारण ईश्वर जीव-रूप और बाह्य पदार्थ-रूप जान पड़ता है, केवल मनुष्य की कल्पनाएँ हैं। वस्तुतः, ईश्वर निर्गुण और निरुपाधिक है। मनुष्य की बुद्धि में इच्छा-द्वेषादि गुणों को प्रकाश करता हुआ कभी प्रमाता-स्वरूप और कभी साकार मूर्त पदार्थ-रूप ईश्वर देख पड़ता है। वस्तुतः, उसके भिन्न-भिन्न स्वरूप नहीं हैं। इसी प्रकार ईश्वर सर्वज्ञ है और उसका ज्ञान अनन्त है। पर, उसका ज्ञान मनुष्य के ज्ञान के सदृश प्रत्यक्षादि के अधीन और अहंकारमूलक नहीं; क्योंकि उसके यहाँ अहं और पर का तो भेद ही नहीं है। इसलिए, अनन्त ज्ञानमय होने पर भी प्रत्यक्षादि बाह्य वस्तुसापेक्ष ज्ञान-विशिष्ट अहंकार परतन्त्र ईश्वर नहीं है, किन्तु शुद्ध ज्ञान-स्वरूप है, ऐसा समझना चाहिए। जीव और शरीर दोनों एक ही वस्तु के विवर्त्त हैं, इसीलिए शरीर का असर जीव पर होने से संवेदन होता है और जीव की कृति-शक्ति से शरीर हिलता चलता है। इसी मत को शरीरात्म-सहपरिवर्त्तिता (Psycho-physical Parallelism) कहते हैं।

गति और स्थिति आकार के रूपान्तर या परिवर्त्तन हैं और बुद्धि और कृति ज्ञान के रूपान्तर हैं। गति और स्थिति बुद्धि और कृति इन्हीं चारों से ज्ञाता और ज्ञेयस्वरूप समस्त संसार बना है। ये चारों स्वयं नित्य अनादि अनन्त हैं, पर तत्तत् व्यक्तियों में जो इनके विशेष रूप देख पड़ते हैं, उन्हीं का परिवर्त्तन हुआ करता है। अब यहाँ पर एक और विरोध पड़ता है। यदि द्रव्य नित्य और अपरिणामी है, तो परिवर्त्तन किसका होता है।

वेदान्त... विवर्त्त

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

इस शंका का समाधान स्पाइनोजा ने नहीं किया है। आत्मा और शरीर दोनों समपरिवर्त्ती और सहचारी हैं, इसलिए प्रत्येक शरीर के लिए आत्मा और प्रत्येक आत्मा के लिए शरीर है। प्राणियों के शरीर में संवेदन होता है। संवेदन शरीर का धर्म है। पर, प्रत्यक्ष मन का धर्म है। जैसे ही शरीर में उत्तेजना होती है, उसी समय ठीक उसी आकार का प्रत्यक्षानुभव मन में होता है। जो प्रत्यक्ष स्पष्ट नहीं होते, वे भ्रमात्मक भूत-पिशाच आदि दृश्यों का खयाल कराते हैं। पर स्पष्ट ज्ञान के द्वारा वस्तुस्थिति यथावत् विदित होती है। जैसे प्रभा अपने को और दूसरी वस्तुओं को भी ग्रहण कराती है, वैसे ही वास्तव-ज्ञान, अर्थात् प्रमा स्वयं प्रमाण है। उसके बोध के लिए दूसरी वस्तु की अपेक्षा नहीं है। भ्रममय कल्पना से मनुष्य, ईश्वर आदि को भी अपने ही सा मूर्त्तियुक्त देखता है और अपने ही को सब वस्तुओं का केन्द्र मानता है। पर, शुद्ध ज्ञान होने पर शाश्वत अनादि अनन्त अपरिच्छिन्न ईश्वर का बोध हो जाता है और सब वस्तुएँ उसी के विवर्त्त हैं, ऐसा ज्ञान होने लगता है।

आकस्मिकता और पदार्थों का बिना कारण, बिना नियम होना मनुष्य भ्रम ही से कल्पना कर लेता है। शुद्ध ज्ञान से नियति का बोध हो जाता है और बिना ईश्वर के कुछ नहीं हो सकता, यह तत्त्व विदित हो जाता है। मनुष्यों को भ्रम है कि ईश्वर अपूर्ण है। किसी प्रयोजन के साधन के लिए और अपने को पूर्ण बनाने के लिए सृष्टि आदि ईश्वर करता है—इत्यादि सब भ्रम शुद्ध ज्ञान से दूर हो जाते हैं। सर्वव्यापी परासत्ता केवल ईश्वर है। वह सदा परिपूर्ण है। अपना कारण और प्रयोजन सब वह स्वयं है।

मनुष्यों का यही शुद्ध बोध केवल स्वतन्त्र है और सब प्रकृति के नियम के अधीन है। इसलिए यथालाभ शरीर-निर्वाह-मात्र से सन्तुष्ट होकर जो होना है, वही होगा, ऐसा समझता हुआ ज्ञानी पुरुष सर्वदा सुखी रहता है। ईश्वर को सर्वात्मा समझकर वास्तव प्रेम ज्ञानी को उसमें रहता है। जो लोग ईश्वर को सगुण समझकर किसी सांसारिक सुख की इच्छा से ईश्वराराधन करते हैं, उनका प्रेम सच्चा नहीं है। ज्ञानी के प्रेम में प्रेमकर्त्ता और प्रेमकर्म दोनों एक हो जाते हैं।

स्पाइनोजा के मत से एक ही द्रव्य ईश्वर है, जिसके दो रूप हैं, शरीर और आत्मा। शरीर साकार और आत्मा निराकार है। प्रतियोगी और अभाव, अन्धकार और प्रकाश ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं—यही इस मत में विरोध पड़ता है। शरीर या मूर्त्त पदार्थों में आकार का आभास-मात्र है। वस्तुतः, यह मूर्त्ततायुक्त होना केवल एक शक्ति है। इसलिए मूर्त्त पदार्थ को जिसे कि यथार्थ में शक्तिमत्पदार्थ कहना चाहिए, ज्ञाता से, अर्थात् आत्मा से प्रतियोगी और अभाव का सम्बन्ध नहीं है और यदि प्रमाणों से सिद्ध हो, तो उनका अभेद अविरुद्ध है—ऐसा लीब्नीज नामक दार्शनिक ने दिखाया है। मूर्त्तता कोई आकार या प्रादेशिक धर्म नहीं है, किन्तु शक्तिमात्र है। इस बात को आधुनिक वैज्ञानिक भी मानते हैं। इसलिए लीब्नीज का आविष्कार बड़ा गम्भीर है और इसके दर्शन का विचारपूर्वक परिशीलन करना चाहिए।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

लीब्नीज—लीब्नीज का जीवन स्पाइनोजा के सदृश दीनता और दुःख से पूर्ण नहीं था। यह धनों के घर में उत्पन्न हुआ। स्वयं भी राजकीय कार्य आदि में रहकर सुखमय जीवन इसने बिताया। इनका जन्म लीप्सिक नगर में था। इसका मुख्य ग्रन्थ La Monadologfe है।

स्पाइनोजा ने द्रव्य को एक माना है। लीब्नीज के मत से द्रव्य असंख्य और स्वयं कार्यशक्तिशाली हैं। गणित में बिन्दु माने गये हैं और प्रकृति-विज्ञान में परमाणु माने जाते हैं, वैसे ही दर्शन में शक्तिकेन्द्र मानना उचित है। इन शक्तिकेन्द्रों में रन्ध्र नहीं है। इसलिए, दूसरी किसी वस्तु का असर इनपर नहीं हो सकता। इनमें स्वयं कार्य-ज्ञान आदि की शक्ति है। इन शक्तिकेन्द्रों का नाम लीब्नीज को सम्भव है कि ब्रूनो से मिला हो, परन्तु इनके स्वभाव आदि का पूर्ण उत्पादन लीब्नीज ने अपने ही स्वतन्त्र विचार से किया।

मूर्च्छा, स्वप्न आदि अवस्थाओं में आत्मा को ज्ञानशक्ति नहीं रहती। इसलिए, आत्मा को सर्वथा ज्ञानस्वरूप नहीं कह सकते। शरीर को केवल विस्तार-स्वरूप भी नहीं कह सकते; क्योंकि यदि शरीर विस्तार-रूप ही है, तो उसमें गुरुत्व-रोधन आदि की शक्तियाँ कैसे हैं। इसलिए वस्तुतः कार्यशक्ति ही स्थिति का लक्षण है। प्रदेश में विस्तार गुरुत्व आदि सभी इसी कार्यशक्ति के फल हैं। वह कार्यशक्ति किस वस्तु में है, यह ज्ञान मनुष्य को कभी नहीं हो सकता। उस शक्ति के कार्यों से उसकी पारमार्थिकता का अनुमान होता है। ऐसे ही उसी शक्ति का कार्य-ज्ञान भी है। पर, यह शक्ति स्पाइनोजा के द्रव्य-सी एक नहीं है, सभी चित और सभी सांसारिक पदार्थ स्वतन्त्र-शक्तिशाली हैं। उनके कार्य पृथक् देख पड़ते हैं, इसलिए शक्तियाँ अनन्त हैं। जितने शक्तिकेन्द्र हैं, उतनी ही पृथक् शक्तियाँ हैं। प्रत्येक शक्तिकेन्द्र स्वतन्त्र, गवाक्षहीन और समस्त जगत् का संक्षेप रूप है। इन शक्तिकेन्द्रों में परस्पर समान भावना पहले ही से चली आती है, इसीसे एक दूसरे के अनुसार चलता हुआ जान पड़ता है। इच्छा, ज्ञान और कृति सभी शक्तिकेन्द्र में स्वाभाविक हैं। इसलिए, आत्मरूप ये सब केन्द्र हैं। आत्मातिरिक्त बाह्य पदार्थ नहीं है। इसी आत्मशक्ति के कार्यों से बाह्य पदार्थों का भान होता है। मनुष्यों की आत्मा में और अन्य वस्तुओं में इतना ही भेद है कि मनुष्य की आत्मा को स्पष्ट आत्मज्ञान (Apperception) है और अन्य पदार्थों को वेदनामात्र अस्पष्ट (Perception) है।

यद्यपि ये शक्तिकेन्द्र गवाक्षहीन हैं और बाह्य वस्तुओं का प्रवेश इनमें नहीं हो सकता, तथापि जो और वस्तुओं में कार्य होता है, सो सब प्रत्येक शक्तिकेन्द्र में भी वैसा ही प्रतिबिम्ब होता है। अर्थात्, यद्यपि वस्तुतः प्रत्येक शक्तिकेन्द्र अपने अतिरिक्त और कुछ नहीं देख सकता, तथापि प्रत्येक में और सबके कर्मों के समान ही कार्य होता रहता है। इसलिए अपने को देखना और सब वस्तुओं के देखने के तुल्य है। परन्तु, सब शक्तिकेन्द्र एक प्रकार नहीं हैं। किसी में संसार का प्रतिबिम्ब स्पष्ट पड़ता है, किसी में अस्पष्ट, अर्थात् कुछ शक्तिकेन्द्र स्वच्छ और उत्तम हैं. कुछ अस्वच्छ और मलिन हैं। उत्तम की आज्ञा में अधम केन्द्र रहा करते हैं। मनुष्यों में आत्मा उत्तम शक्तिकेन्द्र है, जिसके अनुगामी शरीर

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

घटक अनेक शक्तिकेन्द्र हैं। निर्जीव वस्तुओं में शासक शक्तिकेन्द्र नहीं है, सभी एक समान हैं, सजीवों में जीव शासक केन्द्र है। उत्तम केन्द्रों को और केन्द्र अपनी इच्छा से अनुसरण करते हैं। शारीरिक शक्तिकेन्द्रों में जैसे कार्य होते हैं, उसी के समान कार्य आत्मकेन्द्र में भी होता रहता है; क्योंकि दोनों में पहिले ही से एक भावना (Pre-established harmony) है। जैसे दो घड़ियाँ ऐसे चलाई जायँ कि ठीक दोनों एक ही समय बतलावें, वैसे ही आत्मकेन्द्र और शरीरकेन्द्र दोनों ही समान भाव से चलते हैं। ईश्वर ने एक ही बार दोनों को ऐसा चला दिया है कि बराबर एक भाव से दोनों चल रहे हैं, बार-बार चलाने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

शक्तिकेन्द्रों में उत्कर्ष-अपकर्ष होने के कारण एक शक्तिकेन्द्र सबसे उत्तम है और दूसरा सबसे निकृष्ट है, जिनके बीच में असंख्य केंन्द्र हैं। सब शक्तिकेन्द्र शाश्वत अनादि अनन्त हैं। शरीर शक्तिकेन्द्रों ही का कार्य-विशेष है, ऐसा पहले कह आये हैं। इसलिए निःशरीर कोई शक्तिकेन्द्र कभी नहीं है। पर शरीरत्व को आत्मा का बन्धन नहीं समझना चाहिए; क्योंकि आत्मा की शक्ति का आभास-मात्र शरीर है, कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, जिससे आत्मा बद्ध हो।

शक्तिकेन्द्रों में सर्वदा परिणाम होता रहता है। इसी परिणाम को जीवन कहते हैं। मृत्यु इसी परिणाम की एक विशेष अवस्था है। प्रत्येक शक्तिकेन्द्र में एक परिणाम भूतपूर्व दूसरे परिणाम के अधीन है, इसलिए अकस्मात् उन्नति या अवनति नहीं हो सकती। केवल इतना ही स्वातन्त्र्य शक्तिकेन्द्रों को है कि प्रत्येक अपनी ही पूर्वावस्थाओं से नियत है, किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं रखता।

सबसे उत्तम शक्तिकेन्द्र ईश्वर है। सब वस्तुओं का स्वयं पूर्णस्वरूप अन्य निरपेक्ष कोई कारण अवश्य होना चाहिए। वही सर्वकारण सब शक्तिकेन्द्रों का भी शक्तिकेन्द्र (Monad of Monads) ईश्वर है। मनुष्य की बुद्धि प्रकृति में सर्वोत्तम है, तथापि ईश्वर के पूर्ण बोध का इसको सामर्थ्य नहीं है। अस्पष्ट कुछ-कुछ आभास ईश्वर का मनुष्य-बुद्धि में हुआ करता है। ईश्वर अप्राकृतिक है और मनुष्य की बुद्धि से सर्वथा ग्राह्य नहीं है, तथापि उधर प्रवृत्ति करते-करते मनुष्य की ईश्वर तक पहुंच हो सकती है। ईश्वर के न्याय, नियम आदि से यह सम्पूर्ण संसार चल रहा है। यद्यपि परमेश्वर स्वतन्त्र है, तथापि ऐसे नियम उसने बना दिये हैं, जिनके अनुसार संसार की प्रवृत्ति है और उन नियमों में परिवर्त्तन नहीं होता।

जर्मनी में लीब्नीज के अनुसारी जोर्नहासेन, प्युफेण्डार्फ, टामेसियस, वल्फ आदि बहुतेरे हुए और काण्ट के दर्शन के आविर्भाव तक इसका दर्शन खूब प्रचारित रहा। इन दार्शनिकों में क्रिस्टियन वल्फ मुख्य था। इनका जन्म ब्रेस्लाव नगर में था। इसका मुख्य उद्देश्य सर्वसाधारण में दार्शनिक तत्त्वों का प्रचार था। इसके जनप्रिय धर्म, आचार आदि सम्बन्धी लेखों से जर्मनी में दर्शन का अच्छा प्रचार हुआ।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

लीब्नीज के संविद्वाद के विरुद्ध अनुभववाद (Empiricism) का उद्भव इंगलैण्ड में हुआ, इसलिए यहाँ इंगलैण्ड के दर्शन का वृतान्त अत्र दिया जाता है।

द्वितीय अध्याय

लॉक—जान लॉक का इंगलैण्ड में रिंगटन नामक नगर में जन्म हुआ था। इसने पहले वैद्यक का अभ्यास किया। एक तो पहले ही से आंग्लभूमि की परीक्षा और अनुभव की ओर अधिक ध्यान था, दूसरे वैद्यक के अभ्यास से प्राचीन दार्शनिकों की रीति सर्वथा असंगत लॉक को मालूम पड़ी। आँख मूँदकर सृष्टि, ईश्वर आदि के विषयों में मनमानी कल्पना करना दार्शनिक का कार्य नहीं है। मनुष्य के मन में जन्म ही से कोई तत्वभेद नहीं है, जिसका ध्यान से अन्वेषण हो सकता है। बाह्य पदार्थों के अनुभव से मनुष्य को ज्ञान होता है, इसलिए बाह्य पदार्थों की परीक्षा से तत्वज्ञान सम्भव है।

अपने ग्रन्थ में, जिसका नाम 'मनुष्य-बुद्धि पर एक प्रबन्ध' (Essay on Human Understanding) है, लॉक ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि ज्ञान मनुष्य को सहज नहीं हैं, बाह्य वस्तुओं के अनुभव से प्राप्त है। लीब्नीज आदि दार्शनिकों ने कहा है कि कितने ज्ञान मनुष्य को पहले ही से है, पर मनुष्य को इनके होने का बोध नहीं है। ज्ञान है, पर उसका बोध नहीं है। ये परस्पर विरुद्ध बातें हैं, इसलिए यही कहना ठीक है कि बिना बाह्य पदार्थों के अनुभव के मनुष्य को ज्ञान नहीं हो सकता। नीति, धर्म, आचार आदि किसी विषय के कोई ज्ञान ऐसे नहीं हैं, जो कि मनुष्य को जन्म ही के समय से मन में हों। सब ज्ञान शिक्षा के अधीन है।

मन सादे कागज-सा है। प्रत्यक्ष सब ज्ञान का मूल है। मुख्य दो प्रकार के ज्ञान हैं, बाह्य और संवेदन। संवेदन से बाह्य पदार्थों का ज्ञान होता है और चिन्तन या अनुशीलन से मानस या आन्तर वस्तुओं का ज्ञान होता है। अनुशीलन भी स्मृति-रूप है। जो वस्तु पहले संवेदन से ज्ञात है, उसी का अनुशीलन पीछे होता है। इसलिए संवेदन, अर्थात् ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष ही मानस प्रत्यक्ष का भी मूल है। इसी से सब ज्ञान उत्पन्न होता है।

मन को अनेक संवेदनों को जोड़ने-घटाने आदि की शक्ति है। इसलिए प्रत्यय दो प्रकार के हैं, साधारण या शुद्ध और मिश्र या समस्त। शुद्ध प्रत्यय एक इन्द्रिय के द्वारा आते हैं, जैसे रूप, रस, गन्ध आदि। मिश्र प्रत्यय वृक्ष आदि हैं, जिनमें रूप आदि कई गुण मिले हुए हैं।

यहाँ एक बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। जिनके प्रत्यय या बोध चित्त में होते हैं, उनके सदृश गुण बाह्य वस्तुओं में हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिए। मन में जो रूप आदि का बोध होता है, उस बोध को प्रत्यय कहते हैं और उन प्रत्ययों के प्रयोजक जो धर्मवस्तु में हैं, उन्हें गुण कहते हैं, अर्थात् प्रत्यय चित्तगत हैं और गुण बाह्य वस्तुगत हैं। गति, आकार,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

विस्तार आदि द्रव्य के वास्तव स्वकीय गुण हैं। इनका जैसा अन्तःकरण में भान होता है, वैसे ही ये वस्तु में भी हैं, पर वर्ण, रस आदि केवल इन्द्रियों के सम्बन्ध से विदित होते हैं। ये वास्तव गुण बाह्य द्रव्य के नहीं है। जैसे सूई गड़ाने से जन्तु को दुःख होता है, पर वस्तुतः सूई में दुःख नहीं है, केवल दुःखप्रयोजक कुछ तीक्ष्णता, कठिनता आदि गुण हैं, वैसे ही रसादि बोध-प्रयोजक गुण रसादि भिन्न कुछ दूसरे प्रकार की उन-उन वस्तुओं में वर्त्तमान हैं। जो वस्तु पूर्ण हरी या लाल देख पड़ती है, वही सूक्ष्म दर्शन के द्वारा सफेद मालूम होने लगती है, जब उसके दाने फरक हो जाते हैं। इसीसे वर्ण आदिक गुण इन्द्रियाधीन हैं, न कि वस्त्वधीन; क्योंकि वर्ण, रस, आदि गुण यदि वस्त्वधीन होते, तो सदा एक-से अनुभव में आते।

यदि मनुष्य के ज्ञान की परीक्षा की जाय, तो देखने में आता है कि संवेदन, धारण, स्मरण, भेदप्रत्यय, तारतम्य-बोध और प्रत्याहरण या विवेचन की शक्तियां मनुष्य की हैं। संवेदन के द्वारा रूप आदि का अनुभव होता है। धारण के द्वारा यह अनुभव कुछ काल तक मन में ठहरता है। स्मरण से उसका पुनरुज्जीवन हो सकता है। भेदबोध के कारण रूप को रस से या एक रूप को रूपान्तर से मनुष्य भिन्न समझ सकता है। एक रूप का दूसरे रूप से कितना भेद और कितनी समता है, इस बोध को तारतम्यबोध कहते हैं। ये सब शक्तियाँ केवल मनुष्यों ही में नहीं, पर छोटे जन्तुओं में भी हैं। किन्तु अन्तिम शक्ति, अर्थात् प्रत्याहरण-शक्ति केवल मनुष्यों ही में है। इस शक्ति के द्वारा सामान्य प्रत्यय बनते हैं। जातिबोध इसी शक्ति से होता है। सब वृक्षों में एक वृक्षत्व-जाति है और यही समान धर्म होने से कारण सभी का वृक्ष नाम पड़ा है, यह बोध अन्य जन्तुओं को नहीं हो सकता। इसी विशेष शक्ति को प्रत्याहरण-शक्ति कहते हैं। इन संवेदन, धारण आदि व्यापारों में पहले चित्त बाह्य वस्तुओं के अधीन है, पर आगे-आगे की शक्तियों में क्रम से मन स्वतन्त्र होता है और अपनी कार्यक्षमता को प्रकाशित करता जाता है।

अनन्त शाश्वत वस्तु का अनुभव इन्द्रियों से नहीं होता, इसलिए कितने ही समझते हैं कि मन में अनुभवनिरपेक्ष ये प्रत्यय हैं। पर ऐसा समझना भ्रम है; क्योंकि अनन्त, अनादि, अनश्वर आदि प्रत्यय केवल अभावस्वरूप हैं, वास्तव भावरूप नहीं हैं। चित्त में शक्ति है कि जहाँतक चाहे किसी वस्तु, देश, काल आदि को पसराता जाय। वस्तुतः, परिच्छिन्न ही देश और काल चित्तगोचर हैं, पर इस परिच्छिन्न देश-काल में और-और देश-काल मन जोड़ता जाता है, इसीसे अनन्त और शाश्वत प्रत्यय का आभास होता है।

मनुष्य की कृतिशक्ति (Will) सुख के अधीन है, इसलिए मनुष्य की कृतिशक्ति स्वतन्त्र है या नहीं, यह प्रश्न निरर्थक है।

कई गुणों को एक साथ देखते-देखते मनुष्य को वे गुण किसी एक द्रव्य में लिपटे हुए मालूम पड़ते हैं। वस्तुतः, इन गुणों के समुदाय के अतिरिक्त कोई द्रव्य-वस्तु पृथक् नहीं है। कितने दार्शनिक कहते हैं कि द्रव्य एक विलक्षण अज्ञात वस्तु है, जिसमें आकार-विस्तार आदि लिपटे हैं और इन आकार आदि में वर्ण आदि हैं। तो जैसे पौराणिक कहते हैं कि

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

पृथ्वी शेष पर और शेष दिग्गज पर और दिग्गज कच्छप पर है, पर यह कछुआ किसपर है, इसका जवाब नहीं देते, वैसे ही यह द्रव्य क्या है, यह अन्त में पता नहीं लगता, तो फिर पहले ही से क्यों नहीं कहना कि पृथ्वी किसी पर नहीं है, स्वयं प्रतिष्ठित है और गुणों का आश्रय और कोई वस्तु नहीं है वे स्वयं वर्त्तमान हैं। (लॉक का ग्रन्थ, भाग २, अ० २३)।

ऐसे ही जाति कोई वस्तु नहीं है। विशेष व्यक्तियों को मनुष्य देखता है। इन सभी में बहुत-से धर्म समान पाकर उन्हीं समान धर्मों के समुदाय को मनुष्य एक जाति मान लेता है और वैसी वस्तुओं का जिनमें ये धर्म हों, एक विशेष नाम रख देता है।

अब प्रश्न यह रहा कि ज्ञान किसे कहते हैं। दो या अनेक प्रत्ययों में सम्बन्ध या विरोध का जो अनुभव है, उसी को ज्ञान कहते हैं। यद्यपि मनुष्य को साक्षात् अनुभव अपने ही प्रत्ययों का और उनमें परस्पर सम्बन्धों का है, तथापि कितनी वस्तुएँ तर्क से निश्चित होती हैं। हमारे प्रत्यय की प्रयोजक बाह्य वस्तुएँ अवश्य हैं, नहीं तो शुद्ध आन्तर स्वप्न आदि के ज्ञान में और वस्तुज्ञान में कोई विशेष न होता और मन के लड्डू से वैसी ही तृप्ति होती, जैसे असली लड्डुओं से। इसी प्रकार एक इन्द्रिय से जिस बाह्य वस्तु का ज्ञान होता है, उसकी बाह्य स्थिति में संदेह हो, तो दूसरी इन्द्रिय से निश्चय कर लेते हैं, जैसे सामने दीवार है या ऐसे ही कोई भ्रम है, ऐसा यदि संशय नेत्रकृत ज्ञान में हो, तो स्पर्श से निश्चय कर लेते हैं। इस प्रकार इन्द्रियों की बाह्य वस्तु-सूचन में एकता देखकर भी बाह्य वस्तुओं की स्थिति निश्चय होती है। पर यह बाह्य वस्तु कैसी है, इसका निश्चय नहीं हो सकता। ऐसे ही आत्मा, ईश्वर आदि का भी मनुष्य को जो ज्ञान है, उसके विषय में इतना ही कह सकते हैं कि आत्मा की और ईश्वर की स्थिति है। विशेष परीक्षा केवल प्रत्यक्षानुभूत प्रत्ययों की ही हो सकती है। इसलिए, आत्मा, ईश्वर आदि अप्रमेय विषयों का चिन्तन छोड़कर मनुष्य को अनुभव और परीक्षा जिन विषयों की हो सकती है, उन्हीं के ज्ञान के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

बर्कले—जॉर्ज बर्कले का जन्म आयरलैण्ड में हुआ। यह बहुत दिनों तक क्लोयिन् नगर का धर्मनेता (Bishop) था। इसका मुख्य ग्रन्थ 'मनुष्य के ज्ञान का तत्त्व' (Treatise on the Principle of Human Knowledge) है।

लॉक ने वर्ण, रस आदि प्रत्यय से भिन्न बाह्य वस्तु नहीं है, इतना तो माना है, पर साथ-ही-साथ आकार, विस्तार, गति आदि बाह्य हैं और मनुष्य के प्रत्यय के कारण हैं, यह भी माना है। यह अर्धजरतीय अत्यन्त असंगत है; क्योंकि आकार आदि का बोध होता है या नहीं, यदि बोध होता तो, ये भी प्रत्यय-स्वरूप हैं और यदि बोध नहीं होता तो, उनकी स्थिति ही में प्रमाण क्या? इसलिए द्रव्य, अर्थात् समस्त संसार आत्मा का कार्य है। प्रत्यय आत्मा से उत्पन्न है। इनकी बाह्य स्थिति सर्वथा असम्भव है। पर सब वस्तु मनुष्य की परिच्छिन्न आत्मा के अधीन तो नहीं है; क्योंकि सूर्य, चन्द्र आदि प्रायः सभी वस्तुएँ जो अनुभूत होती हैं, उनपर हमारा वश नहीं है। इसलिए, कोई हमारी परिच्छिन्न आत्मा से अधिक शक्तिमती दूसरी आत्मा है, जिसका कार्य यह संसार है। इसी आत्मा को

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

परमेश्वर या परमात्मा कहते हैं। इसी की सहायता से जीव को सब प्रत्यय होते हैं। बाह्य वस्तुओं की स्थिति केवल भ्रम है। जीव, परमेश्वर और इन दोनों के प्रत्यय, इन तीनों वस्तुओं के अतिरिक्त और सब भ्रममात्र हैं।

बर्कले के प्रत्ययान्तरत्ववाद में शंकाएँ रह गई। परमात्मा और जीव से क्या सम्बन्ध है। कैसे परमात्मा के प्रत्यय सूर्य, चन्द्र आदि जीव को भासते हैं इत्यादि विषयों का स्पष्ट बोध इसके दर्शन से नहीं हुआ और इसी कारण पूर्ण सन्तोष वहुत-से वैज्ञानिकों को इस मत से नहीं हुआ। केवेनिस आदि फ्रान्स के वैज्ञानिक आत्मावाद का खण्डन कर बाह्य वस्तुवाद का अवलम्बन करने लगे।

ह्यूम—ऐसे समय में ह्यूम नामक स्काटलैण्ड के दार्शनिक ने मानसपरीक्षा की रीति निकाली, जो उसके बाद काण्ट की सहायता से सर्वत्र प्रचलित हुई। ह्यूम का मुख्य ग्रन्थ 'मनुष्य के ज्ञान की एक परीक्षा' (An Enquiry concerning Human Understanding) है।

प्रत्यक्ष या अनुभव और चिन्तन या स्मृति, इन दोनों के अतिरिक्त कोई ज्ञान नहीं है। अनुभवगोचर विषय अधिक प्रबल होते हैं। वे ही स्मरणगोचर होने से दुर्बल होते हैं। इन दोनों में भी अनुभव में जो विषय हैं, उन्हीं की स्मृति में पुनरुज्जीवन होता है। स्मृति, उत्प्रेक्षा, कल्पना आदि में अनुभवगोचर विषयों के अतिरिक्त और कुछ भी आ नहीं सकता। अनुभव के पृथक् विषयों को जोड़ना, एकत्र मिले विषयों का पृथक् करना, यही मनुष्य की बुद्धि से हो सकता है। कोई नयी बात अनुभव से अतिरिक्त बुद्धि दे, यह सर्वथा असम्भव है। यहाँतक कि ईश्वर का प्रत्यय जो मनुष्य के हृदय में है, सो मनुष्य में प्राकृत और पदार्थों में प्रत्यक्षानुभूत जो उत्तमता सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति आदि परिच्छिन्न रूप से पाये जाते हैं, उन्हो में से परिच्छेद को अलग कर अपरिच्छिन्न रूप में उत्प्रेक्षित कर कोई पृथक् इस प्रकार की अपरिच्छिन्न ज्ञानादि विशिष्ट वस्तु को मान लेना मात्र है।

प्रत्यक्षानुभूत वस्तुओं में तीन प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं—(१) सादृश्य, (२) देश या काल में सन्निकर्ष, (३) कार्य-कारण-भाव। दो वस्तुएँ जब एक-सी देख पड़ती हैं, तब एक के स्मरण से दूसरे का भी स्मरण हो जाता है। ऐसे ही हाथी, हाथीवान आदि जो दो वस्तु देश या काल में एक के समीप दूसरी देख पड़ती है, उसका भी स्मरण परस्परोत्तेजक हो जाता है, इसी प्रकार अग्नि, धूम आदि वस्तु, जिसमें कार्य-कारण-भाव है, उनके ज्ञान में भी एक सम्बन्धिज्ञान को अपर सम्बन्धिस्मारकता होती है।

इन तीनों सम्बन्धों में कार्य-कारण-भाव पर दार्शनिकों की बड़ी आस्था है। भारतीय नैयायिकों के सदृश ऐन्सेल्म, डेकार्ट आदि यूरोप के दार्शनिकों ने इसी कार्य-कारण-भाव के बल पर ईश्वर की सिद्धि का भरोसा रखा था। प्रायः दार्शनिक लोग समझते हैं कि चित्त में कार्य-कारण-भाव की बुद्धि सहज है। इसलिए, प्रत्येक वस्तु के देखने से उसके कारण की चटपट स्वाभाविक जिज्ञासा होती है और समस्त संसार को कार्य मानकर उसका कारण ईश्वर सिद्ध होता है। पर ऐसे तर्क केवल भ्रममूलक है; क्योंकि कार्य-कारण-भाव

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

का बोध स्वाभाविक नहीं है। जैसे अन्य सम्बन्धों का बोध अनुभवमूलक हैं, वैसे ही इस सम्बन्ध का भी ज्ञान है। मनुष्य एक गेंद को दूसरे गेंद में धक्का देते हुए देखता है। इससे स्थिर द्वितीय गेंद चल प्रथम गेंद के सम्बन्ध में चल पड़ता है। इतना देखने से और ऐसा जब-जब हो, तब-तब कोई प्रतिबन्धक न हो, तो द्वितीय गेंद में गति अवश्य उत्पन्न होती है। पर यह व्याप्तिग्रह सर्वथा अनुभव और परीक्षा के अधीन है। कोई ऐसी आवश्यक शक्ति एक गेंद में है, जिससे द्वितीय चल पड़ता है, यह स्वाभाविक ज्ञान भ्रम है। वस्तुतः, कार्य और कारण दोनों भिन्न वस्तुएँ हैं, जिनमें आवश्यक कोई सम्बन्ध हो नहीं सकता या हो भी तो, जाना नहीं जा सकता। केवल प्रायः पूर्ववर्त्तिता-मात्र देखने ही से मनुष्य कारणता का निश्चय कर लेता है, ऐसे ही मनुष्य की इच्छा और उसके प्रयत्न से उसका हाथ हिलता है, पर क्यों हाथ हिलता है, यह कुछ नहीं कह सकते। अनुभव से हाथ का हिलना सिद्ध है। पर लकवा मारने पर वही हाथ नहीं हिलता, तो समझते हैं कि अब प्रयत्न करना व्यर्थ है। इसलिए अनुभव से बढ़कर कोई अपूर्व निश्चय और अदृष्ट शक्ति कार्य-कारण-भाव के स्थलों में मानना शुद्ध भ्रम है।

जिस लड़के ने कभी धुएँ के साथ आग नहीं देखी है, उसे कभी धुआँ देखने से उसके कारण का अनुभव नहीं हो सकता। केवल बार-बार देखते-देखते जब अभ्यास हो जाता है कि बिना आग के धुआँ नहीं देखा जाता, तब दोनों में एक आवश्यक सम्बन्ध, कार्य-कारण-भाव है, ऐसा मालूम पड़ने लगता है।

इस प्रकार, कारणता का खण्डन कर ह्यूम ने अनुभवागोचर ईश्वर, अप्राकृत घटना आदि का खण्डन किया। और, बाह्य वस्तु के विषय में ह्यूम ने यह समझा है कि जो कुछ हमारे अनुभव का विषय है, सो सब हमारे प्रत्यय हैं। केवल किसी प्रकार इन प्रत्ययों से बाह्य वस्तु की सत्ता का अनुभव हो सकता है, पर इन प्रत्ययों की प्रयोजक वस्तु प्रत्ययों के सदृश है कि विसदृश, यह कहा नहीं जा सकता; क्योंकि अनुभव के अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं है, अनुभव बाह्य वस्तु के ग्रहण में असमर्थ है।

लॉक और ह्यूम के दर्शन के विरुद्ध सामान्य बुद्धिवाद (Commonsense Philosophy) स्काटलैण्ड में निकला। टॉमस रीड और ड्यूगल्ड स्टुअर्ट इस दर्शन के प्रचारक हुए। ह्यूम की बातों से धर्म आदि विषयों की कौन पूछे, यहाँतक कि वैज्ञानिक और सामान्य विषयों में भी बड़ा संशय आ पड़ा। ह्यूम ने सभी विषयों का खण्डन कर दिया। बाह्य वस्तुओं की स्थिति, ईश्वर की सत्ता, कार्य-कारण-भाव, सभी ह्यूम की कसौटी पर झूठे प्रमाणित हुए। ऐसे समय में सामान्यतः गँवार-से-गँवार और चालाक-से-चालाक शिक्षित-अशिक्षित सभी व्यक्तियों का जिन बातों पर विश्वास है, उन्हें निश्चित मानना यह मत बहुतेरों को अच्छा मालूम हुआ।

रीड—हचेसन और स्मिथ आदि आचार और नीति, विषयों के लेखकों में इंगलैण्ड में भी सामान्य बुद्धि पर विश्वास सूचित हुआ था, पर स्पष्ट इन विषयों का प्रतिपादन पहले-पहल स्काटलैण्ड में रीड ने किया। रीड चिरकाल तक एवर्डीन और ग्लासगो में

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

अध्यापक था। 'सामान्य बुद्धि की दृष्टि से मनुष्य के चित्त की परीक्षा' (Inquiry into the Human mind on the Principles of Commonsense) इसके मुख्य ग्रन्थ का नाम है। इस ग्रन्थ में इसने लिखा है कि पहले के ग्रन्थ को पढ़कर विज्ञान, धर्म, आचार आदि सभी विषयों में इसे संशय पड़ा और अश्रद्धा उत्पन्न हुई। पर परीक्षा करने पर ह्यूम का मत इसे साधारण अनुभव से व्याहृत देख पड़ा। इसलिए बेकन और न्यूटन आदि वैज्ञानिकों को रीतियों को अवलम्बन कर इसने अपना दर्शन ह्यूम के विरुद्ध स्थापन किया।

मनुष्य के चित्त में ऐसे स्वाभाविक निःसन्देह कितने विश्वास हैं, जिनका किसी दर्शन से प्रत्याख्यान नहीं हो सकता है। आत्मा की स्थिति और बाह्य वस्तु की सत्ता में सब साधारण मनुष्यों को पक्का स्वाभाविक विश्वास है। जब मनुष्य को प्रभा आदि का संवेदन होता है, तो रूपादि गुणविशिष्ट प्रत्यक्ष का विषय और ज्ञानवान् आत्मा जिसे प्रत्यक्ष होता है, इन दोनों की स्थिति स्वभावसिद्ध मालूम होती है। अनुभव और स्मरण में और दोनों से उत्प्रेक्षा में इतना भेद है कि इनको सर्वथा भिन्न ही समझना चाहिए। प्रत्यक्षानुभव को अभ्यास या सहचारजन्य भ्रम कभी कह नहीं सकते। सर्वथा नवीन वस्तु, जिसका कभी अनुभव नहीं हुआ है, उसका ज्ञान प्रत्यक्ष से, अर्थात् विषय और इन्द्रिय के सन्निकर्ष से होता है। ऐसी अवस्था में, जो बाह्य विषय में अथवा आत्मा में विश्वास न रखे, उसे दार्शनिक नहीं, बल्कि उन्मत्त कहना चाहिए।

जिस प्रकार बाह्य इन्द्रियों से हमें बाह्य विषयों का ग्रहण होता है, वैसे ही अन्तःकरण (Moral sense) से उचित, अनुचित आदि का विचार होता है। उचित-अनुचित का भेद और इस भेद को करनेवाली शक्ति, ये दोनों भी पारमार्थिक वस्तुएँ हैं। इनका भी खण्डन नहीं हो सकता।

अपने 'मानस शक्तियाँ' (Intellectual Powers) नाम के ग्रन्थ में रीड ने लिखा है कि प्रत्यक्षज्ञान के समय बाह्य वस्तु की स्थिति में अपरिहार्य विश्वास मनुष्य को होता है। यह विश्वास तर्कमूलक नहीं है, पर स्वाभाविक प्रत्यक्ष के साथ-साथ होता है। इसलिए, दार्शनिकों ने जो मनोमय संसार माना है और बाह्य वस्तुओं का खण्डन किया है, वह केवल भ्रम है।

रीड का अनुसरण कर ह्यूम के मत का स्ट्युअर्ट आदि दार्शनिकों ने खण्डन करने का प्रयत्न किया, पर वे सफल नहीं हुए। चित्त में जो कुछ आ जाय, उसीको प्रमाण समझकर ह्यूम से झगड़ने में साफल्य कभी नहीं हो सकता था। क्योंकि, परीक्षा द्वारा, सामान्यबुद्धिवेद्य वस्तुओं का ह्यूम ने पूर्ण प्रत्याख्यान कर दिया था। परीक्षा ही के अस्त्र से काण्ट ने ह्यूम का किस प्रकार प्रत्याख्यान किया, सो आगे दिखाया जायगा। तबतक लॉक के देशान्तरीय अनुगामियों का वृत्तान्त यहाँ दिया जाता है।

कॉण्डियैक—लॉक के अनुगामियों की संख्या फ्रान्स में अधिक हुई। इनमें कॉण्डियैक नामक दार्शनिक शुद्ध प्रत्यक्षवादी है। 'प्रत्यक्ष पर प्रबन्ध' (A Treatise on

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

Sensations) नामक अपने ग्रन्थ में इस दार्शनिक ने यह दिखलाया है कि लॉक ने दो प्रत्ययों के दो मूल बताये हैं—संवेदन या ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष और मानस-चिन्तन। इन दोनों में से ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष ही मूल है, मानस कल्पना का भी, इसलिए एक ही मूल सब प्रत्ययों का मानना उचित है।

इसने बड़ी बुद्धिमानी से इस बात का प्रतिपादन किया है कि प्रत्यक्ष ही सब प्रत्ययों का मूल है। कल्पना करो कि एक ऐसी मूर्ति है, जो मनुष्य के सदृश प्राण आदि की शक्ति रखती है, पर ऐसा समझो कि इसके शरीर के ऊपर एक पतला-सा स्तर संगमर्मर का बैठाया है, जिससे इसको बाह्य वस्तुओं का अनुभव नहीं होता। अब इस मूर्ति को बाह्य वस्तुओं का अनुभव नहीं होने के कारण किसी ज्ञान का सम्भव नहीं है। चित्त इसका शून्य है। इस अवस्था में यदि इसकी नाक पर से मर्मर की एक आवृति पहले निकाल दी जाय, तो इसे केवल गन्ध का अनुभव होगा। इस समय गन्ध के अतिरिक्त आत्मा, अनात्मा, किसी वस्तु का ज्ञान इसको नहीं हो सकता। बाह्य वस्तु का या अपने शरीर ही का स्पर्श यह कर ही नहीं सकता, कुछ देख नहीं सकता, इसलिए गन्ध-प्रत्यय के अतिरिक्त न इसकी आत्मा है और न शरीर है, न बाह्य वस्तु है।

अब यदि क्रम से इस मूर्ति के सामने गुलाब, चमेली, लहसुन आदि वस्तुएँ रखी जायँ, तो इस मूर्ति को पहले तो हटाई हुई चीजों को गन्ध का कुछ स्मरण रहेगा, फिर सुगन्ध (गुलाब आदि की गन्ध) के पुनः अनुभव की इच्छा होगी और लहसुन आदि की दुर्गन्ध के परिहार की इच्छा होगी। इस प्रकार गन्धप्रत्यय, अवधान, तारतम्य, स्मृति, इच्छा, सुख, दुःख और प्रयत्नरूप हो गया। केवल गन्ध के प्रत्यय से सुगन्ध की ओर अवधान और दुर्गन्ध, दोनों की स्मृति, फिर दोनों का तारतम्य, एक से सुख दूसरे से दुःख, एक की ओर इच्छा और दूसरे से अनिच्छा, एक के पुनरनुभव का प्रयत्न दूसरे के परिहार का प्रयत्न, इतना सब हुआ। तारतम्य से सम्बन्ध-ग्रहण, चिन्तन, तर्क, विवेचन आदि अनेक धर्म उद्भूत हुए और बुद्धि का आविर्भाव हुआ। जब इस मूर्ति को दुर्गन्ध का अनुभव होता है, तब इसे सुखावह सुगन्ध का स्मरण होता है। तब इन दो प्रकार के गन्धों का तारतम्य करने से दोनों के सादृश्य और विसादृश्य का बोध होता है। फिर, क्रम से सुख और दुःख गन्ध के सहभावी पृथक् विषय हैं, यह भान होता है और इसी अवधान, स्मरण, सुख, दुःख आदि के समूह को आत्मा कहने लगते हैं।

इसी प्रकार, किसी एक इन्द्रिय के अनुभव से समस्त ज्ञान की उत्पत्ति का क्रम दिखाया जा सकता है। इसलिए सब ज्ञान का मूल ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष है। जैसे नाक की तह निकालने से मूर्ति को इतना ज्ञान हुआ है, वैसे ही आँख आदि की भी तह निकाल दें, तो उसका ज्ञान और भी बढ़ता जायगा, पर जबतक स्पर्शहेतु त्वगिन्द्रिय की तह न निकाली जाय, तबतक बाह्य वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो सकता। वस्तुओं की बाह्य सत्ता के ज्ञान के लिए यह इन्द्रिय अत्यन्त आवश्यक है। जो लोग अन्धे जनमते हैं, उनकी आँख यदि किसी प्रकार दुरुस्त कर दी जाय, तो भी पहले, बिना स्पर्श के, चित्त के घोड़े में और असली घोड़े में भेद उन्हें नहीं

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

जान पड़ता, जैसा कि कैसेलेन नामक डाक्टर की चिकित्सा में हुआ था। स्पर्शेन्द्रिय से वस्तुओं का घनत्व, कठिनत्व आदि विदित होता है, जिसके कारण उनकी बाह्य स्थिति जानी जाती है।

इस रीति से चित्त को शुद्ध सादा पत्र कौरिडयेक ने सिद्ध किया। अब चित्त में कितना अंश स्वाभाविक अनुभवनिरपेक्ष है, यह सिद्ध करने का यत्न जर्मनी के महादार्शनिक काण्ट के द्वारा हुआ, जैसा कि आगे स्पष्ट होगा।

तृतीय अध्याय

काण्ट—आधुनिक समय में सबसे बड़े दार्शनिक काण्ट का जीवन और दर्शन लिखने का अब अवसर आया है। काण्ट का जन्म कॉनिग्सबर्ग नगर में हुआ। इसका पितामह सकुटुम्ब स्काटलैण्ड से जर्मनी में गया था। इसका पिता जीनपोश बनाने का काम करता था। काण्ट का जोवन अत्यन्त साधारण था। इसने विवाह नहीं किया और अध्यापन में तथा ग्रन्थों के लिखने में बड़ी प्रतिष्ठा के साथ जोवन बिताकर अस्सो बरस की अवस्था में यह मरा।

पहले तो दर्शन के ग्रन्थ जो इसने लिखे, उनमें लीब्नीज और वल्फ का अनुसरण, किया, जिसमें प्रमाणहीन कल्पना(Dogmatism) भरी हुई थी। पर कुछ दिनों के बाद जब इसने ह्यूम के ग्रन्थों को देखा, तब इसने स्वयं लिखा है कि इसकी कल्पना की निद्रा (Dogmatic slumber) खुली। पहले मनुष्य को जब थोड़ा-थोड़ा ज्ञान होने लगता है, तब वह संसार, ईश्वर, आत्मा आदि के विषयों में अनेक कल्पनाएँ प्रमाणनिरपेक्ष करने लगता है। इस समय को कल्पना का समय (Dogmatic period) कहना चाहिए। फिर, कुछ अधिक ज्ञान होने से, इन कल्पनाओं में विरोध देखकर मनुष्य संशय में पड़ता है। इस समय को संशयावस्था (Sceptic period) कहना चाहिए। अन्ततः, मनुष्य 'अपने ज्ञान की स्वयं परीक्षा कर कहाँतक उसका ज्ञान पहुँच सकता है' इत्यादि विषयों को ईश्वर आदि के आलोचन के पहले आवश्यक समझता है। इस समय को परोक्षा-समय (Critical period) कहते हैं। लीब्नीज तक मनुष्य कल्पना-समय में थे। ह्यूम संशयावस्था में हुआ। काण्ट ने परीक्षा-समय में, जो कि अभी तक वर्त्तमान है, आरम्भ किया।

ह्यूम ने कार्य-कारण-भाव का खण्डन किया और यह दिखलाया कि एक वस्तु को सदा दूसरी वस्तु के बाद होते देख हमलोग उन दोनों में कार्य-कारण-भाव की कल्पना कर लेते हैं। वस्तुतः, उन दोनों में आवश्यक कोई सम्बन्ध नहीं है। इस विषय के विचारने से काण्ट को सूझा कि, केवल कार्य-कारण-भाव की ही क्यों, सभी आवश्यक सम्बन्धों की तो यही दशा है। थोड़ी-सी बातों को देखकर मनुष्य समझ लेता है कि (४ + ३) = ७

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

अर्थात् चार और तीन मिलकर सात होते हैं और त्रिकोण के तीनों कोण मिलकर दो ऋजु-कोण के तुल्य होते हैं। जब भूत, भविष्य, वर्तमान, सारे त्रिकोण मनुष्य ने नहीं देखे हैं, तो इस बात का निश्चय उसे कैसे होता है कि सब त्रिकोण-मात्र के तीनों कोण मिलकर दो ऋजुकोण के बराबर होते हैं। इसलिए, यह परीक्षा पहले होनी चाहिए कि ज्ञान किसको कहते हैं। पश्चात् यह विचार हो सकेगा कि गणित आदि के आवश्यक सम्बन्धों का ज्ञान मनुष्य को सम्भव है या नहीं। इसी विषय का विचार काण्ट ने अपने मुख्य ग्रन्थ 'शुद्ध ज्ञान की परीक्षा' (Critique of Pure Reason) में आरम्भ किया है।

ज्ञान में सम्बन्ध-ग्रहण आवश्यक है। इसलिए प्रत्येक ज्ञान में उद्देश्य और विधेय दो वस्तुओं का सम्बन्ध जाना जाता है। पर कहीं-कहीं उद्देश्य और विधेय में केवल शब्द का भेद रहता है, वस्तुतः उद्देश्य से जो प्रथमतः ज्ञात है, उसीको विधेय से विवरण कर देते है, जैसे मूर्त शब्द से साकार पदार्थ का बोध होता है। इस वाक्य में मूर्त का विवरण साकार शब्द से किया गया। वस्तुतः, दोनों में कोई भेद नहीं है और ऐसी प्रतिज्ञाओं को विवरण-प्रतिज्ञा कहते हैं और इन प्रतिज्ञाओं से वास्तव ज्ञान नहीं होता। दूसरी प्रतिज्ञा वह है, जिसमें विधेय से ऐसी कोई नई बात जान पड़े, जो उद्देश्य के अर्थज्ञान से नहीं विदित है, जैसे, पृथ्वी सूर्य के चारों ओर चलती है। इस प्रतिज्ञा में पृथ्वी शब्द से किसी को कभी नहीं ज्ञात हो सकता है कि सूर्य के चारों ओर चलती है या नहीं, इसलिए विधेय सर्वथा नया है। ऐसी प्रतिज्ञाओं को संयोजन-प्रतिज्ञा कहते हैं; क्योंकि इसमें दो नई बातें जोड़ी जाती हैं।

संयोजन-प्रतिज्ञाओं में कहीं सम्बन्ध आकस्मिक होता है। जैसे, आज आकाश मेघयुक्त है। यहाँ आकाश का मेघयुक्त होना सर्वदा के लिए नहीं है। पर दूसरे उदाहरणों में, जैसे, पृथ्वी सूर्य के चारों ओर चलती है या उष्ण से मूर्त पदार्थ फैलते हैं, विधेय और उद्देश्य का सम्बन्ध सब देश और सब काल के लिए है। इसी सार्व-कालिक और सार्वत्रिक सम्बन्ध-ग्रहण को वास्तव ज्ञान कहते हैं।

अब मुख्य प्रश्न यह है कि इस प्रकार का ज्ञान कब हो सकता है। यह ज्ञान तभी सम्भव है, जब उद्देश्य-विधेय ऐन्द्रियक विषय हों, पर उनका सम्बन्ध बुद्धि स्वयं अपनी ओर से दे, जैसे, मूर्त द्रव्य उष्ण से फैलते हैं, यहाँ पर मूर्त द्रव्य और उष्ण से फैलना इन्द्रियग्राह्य है, पर उन दोनों में कार्य-कारण-भाव-सम्बन्ध बताना शुद्ध बुद्धि का कार्य है। बिना आँख या स्पर्शेन्द्रिय की सहायता के इन उद्देश्यों और विधेयों का ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए प्रत्ययैकवादियों का भ्रम है कि वे सब कुछ बुद्धि ही से निकालना चाहते हैं। ऐसे ही, प्रत्यक्षवादियों का भ्रम है कि वे सब कुछ प्रत्यक्षाधीन कहते हैं, क्योंकि उन्मत्त, निर्बुद्धि, विक्षिप्त आदि पुरुषों को उद्देश्य-विधेय आदि का प्रत्यक्ष होने पर भी उनमें कार्य-कारण-भाव आदि सम्बन्धों का ग्रहण नहीं होता। इसलिए जहाँ ज्ञान होता है, वहाँ सभी जगह कुछ अंश बुद्धि का है और कुछ अंश इन्द्रियों का है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

परन्तु इन्द्रियों से जो विषय हमें मिलते हैं, वे भी बाह्य वस्तु स्वयं जैसी है, वैसे तो हैं नहीं। इन्द्रियों के सम्बन्ध होने ही से उनका कुछ विलक्षण रूप हो जाता है। कोई अंश इन्द्रियज ज्ञान में ऐसा है, जिसका वस्तु के अधीन परिवर्त्तन हुआ करता है। पर कुछ अंश ऐसे भी हैं, जो सभी इन्द्रियज ज्ञान के लिए एक ही प्रकार के हैं। ये जो सब ऐन्द्रियक ज्ञान में एक प्रकार के अंश हैं, वे वस्तु के अधीन नहीं है, चित के अधीन हैं। ये देश और काल हैं। सब प्रत्यक्ष देश और काल में होता है, इसलिए ये नियत अंश हैं और मन अपने खजाने में से इन अंशों को निकालता है। इसी देश और काल को चित्तप्रयुक्त, न कि स्वतन्त्र प्रतिपादन, करना काण्ट का नया काम है। और सब दार्शनिक, इसके पहले देश, काल को बाह्य पदार्थ मानते थे।

बच्चा भी दुःखद वस्तु से हटता है और स्वभावतः सुखद वस्तु की ओर हाथ बढ़ाता है। इसलिए क्या चीज आगे है, क्या पीछे है इत्यादि, सब ज्ञान पहले ही से बच्चे को भी है। इस कारण देश का ज्ञान सब ज्ञानों से प्रथम है। ऐसे ही काल में पहले और पीछे का ज्ञान सबको स्वाभाविक है। दूसरा कारण देश और काल मानस होने का यह है कि सब वस्तुओं को ज्ञान से निकाल दें, तो भी देश और काल चित्त से नहीं जाता। अंकगणित, रेखागणित आदि की प्रतिज्ञा सार्वत्रिक और सार्वकालिक मानी जाती है और अंकगणित का काल से और रेखागणित का देश से सम्बन्ध है। यदि देश और काल बाह्य विषय होते, तो और ज्ञानों के सदृश गणित के ज्ञान भी एकदेशी क्यों न होते। इसलिए जैसा अज्ञ लोग समझते हैं कि देश और काल का बाह्य प्रत्यक्ष होता है, सो भ्रम है। वस्तुतः देश और काल मानस पदार्थ हैं, जिनसे सम्बद्ध सब कुछ देख पड़ता है। देश और काल दो रंगीन चश्मे हैं, जिनके द्वारा सब कुछ दृश्य इन्ही रंगों से रँगा हुआ देख पड़ता है। बाह्य वस्तुओं का चित-निरपेक्ष वास्तव स्वरूप (Noumenon) क्या है, यह मनुष्य कदापि नहीं जान सकता। केवल वे हमें कैसे मालूम पड़ते हैं, इन्ही दृश्य रूपों को (Phenomenon) हम अनुभव में ला सकते हैं।

इस प्रकार, ज्ञान का एक सोपान, अर्थात् प्रत्यक्ष समाप्त हुआ। अब रह गया चिन्तन, जो कि बुद्धि का इन्द्रियनिरपेक्ष स्वतन्त्र कार्य है। इस चिन्तन के लिए भी वस्तु, बुद्धि को, इन्द्रियों ही से मिलती हैं। पर इन्द्रियों से मिले हुए विषयों को ग्रहणबुद्धि अपने बारह वर्गों में बांटती है। इन बारह सम्बन्धों में वस्तुओं को लाकर बुद्धि अपनी कल्पनाओं को फैलाती है। जितने प्रकार की प्रतिज्ञाएँ हो सकती हैं, उतने ही वर्ग बुद्धि में हैं। चार मुख्य वर्ग हैं—(१) परिणाम, (२) गुण, (३) सम्बन्ध और (४) प्रकार। इन चारों में प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं। परिणाम के तीन भेद हैं—एक, समस्त और असमस्त। गुण के तीन भेद हैं—विधि, प्रतिषेध और पर्युदास। सम्बन्ध के तीन भेद हैं—स्वतन्त्र, सापेक्ष और सविभाग (या वैकल्पिक)। प्रकार के तीन भेद हैं—सम्भावना, प्रतिपत्ति, आवश्यक प्रतिपत्ति। प्रत्येक वर्ग के उदाहरण—एक (राम विद्वान् है); समस्त—(सब मनुष्य असर्वज्ञ हैं); असमस्त—(कुछ मनुष्य मूर्ख हैं)। विधि—(मनुष्य प्राणी है); निषेध—

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

(पत्थर प्राणी नहीं है); पर्युदास—(ईश्वर अमर है)। स्वतन्त्र—(आत्मा अमर है); सापेक्ष—(यदि आत्मा अमूर्त है, तो अमर है); वैकल्पिक—(या आत्मा मूर्त है या अमर है)। सम्भावना—(मनुष्य कदाचित् सौ वर्ष से अधिक भी जी सकते हैं); प्रतिपत्ति—(आत्मा अमूर्त है); आवश्यक प्रतिपत्ति—(आत्मा को अमूर्त होना ही चाहिए)। इन सब वर्गों में सम्बन्ध मुख्य है। सम्बन्ध ही के विशेष रूप और सब हैं।

इन वर्गों से इतने नियम निकलते हैं। बुद्धिगोचर परिमाणहीन कोई वस्तु नहीं हो सकती; इसलिए परमाणु कोई पदार्थ नहीं है। बुद्धिगोचर कोई पदार्थ निर्गुण नहीं हो सकता; इसलिए शून्य वस्तु नहीं है। बुद्धिगोचर कोई वस्तु असम्बद्ध नहीं हो सकती; इसलिए दैव, आकस्मिकता आदि कुछ नहीं है। बुद्धिगोचर भी वस्तुएं देश-कालाधीन हैं। इसलिए, इन्द्रजाल और आश्चर्य कोई वस्तु नहीं है।

ऊपर कह आये हैं कि सम्बन्ध ही मुख्य वर्ग है, इसी के रूपान्तर और सब हैं। इस सम्बन्ध के भी ग्रहण का मुख्य हेतु काल है। काल ही के अधीन परिमाण, गुण, सम्बन्ध, प्रकार, चारों वर्ग हैं। काण्ट ने काल के द्वारा सब वर्गों का रूप बड़ी उत्तमता से निकाला है, जिसका यहाँ उल्लेख विस्तार के भय से नहीं किया जाता है। शुद्धज्ञान-परीक्षा के द्वितीय भाग में इसका पूर्ण वर्णन मिलेगा।

ज्ञान का तृतीय सोपान बुद्धि के द्वारा ईश्वर, संसार, आत्मा—इन वस्तुओं की कल्पना है। बाह्य इन्द्रियों से देश और काल का जो बोध होता है, उसीके द्वारा देश-काल-गोचर सब विषयों को एक कर बुद्धि उस समुदाय का नाम संसार रखती है। स्वयं बुद्धि के जो वर्ग हैं, उन्हें मिलाकर हम लोग आत्मा शब्द से व्यवहार करते हैं और कारणता को लेकर सबसे अन्तिम कारण को ईश्वर कहते हैं। पर वस्तुतः बुद्धि की पहुँच वहीं तक है, जहाँतक अनुभवगोचर वस्तु है। अनुभव के ऊपर, संसार, आत्मा और ईश्वर स्वयं क्या हैं, इस विषय को बुद्धि कुछ नहीं कह सकती। सृष्टिशास्त्र, आत्मशास्त्र और ईश्वर-शास्त्र असम्भाव्य हैं।

सृष्टिशास्त्रवाले बल्कि आदि संसार को या तो परिच्छिन्न और नश्वर या अपरिच्छिन्न और अनश्वर मान सकते हैं। या संसार परमाणुओं से बना है, या मिश्र द्रव्यों से। संसार कारणों से नियत है, या कारणनिरपेक्ष है। संसार में, या संसार के बाहर, कोई सृष्टिकर्त्ता है।

जैसे उत्तरध्रुव पर एक ऐसी घास है, जिससे मनुष्य अमर हो सकता है। यह यदि कोई कहे, तो उसका खण्डन या मण्डन कुछ भी नहीं हो सकता; क्योंकि उत्तरध्रुव तक मनुष्य की पहुँच नहीं। वैसे ही आत्मा, सृष्टि, ईश्वर आदि के विषय में मनुष्य कुछ नहीं कह सकता और जो चाहे, सो ही कल्पना कर सकता है, क्योंकि वस्तुतः मनुष्य की बुद्धि इन विषयों तक पहुँच नहीं सकती।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

यदि संसार देश और काल से परिच्छिन्न नहीं है, तो अनन्त अंशों के जोड़ने से बना है। इन अनन्त अंशों के जोड़ने में अनन्त काल लगा है, पर यह काल तो बीत चुका है और बीता हुआ काल अनन्त कैसे हो सकता है। इसलिए संसार को देश और काल में परिच्छिन्न मानना चाहिए। पर संसार यदि परिच्छिन्न माना जाय; तो भी बड़ी दिक्कत है, क्योंकि संसार का अर्थ है, प्रत्यक्षयोग्य विषयों का समूह, और यह यदि परिच्छिन्न है, तो इसका परिच्छेदक देश इसके बाहर है, और देश बाहर का प्रत्यक्षयोग्य विषय नहीं है, अर्थात् अमूर्त है। यदि ऐसी बात है, तो मूर्त और अमूर्त का सम्बन्ध हुआ, जो कि सर्वथा असम्भाव्य है। इन विरोधों से संसार को न तो परिच्छिन्न कह सकते हैं, न अपरिच्छिन्न कह सकते हैं।

ऐसे ही, यदि संसार को परमाणुओं से बना हुआ मानें, तो परमाणु मूर्त है या अमूर्त। यदि मूर्त हैं, तो इनका विभाग हो सकता है, यदि अमूर्त हैं, तो इनसे मूर्त पदार्थ का आविर्भाव कैसे। क्योंकि असत् से सत् तो हो नहीं सकता। इसलिए; परमाणु न मूर्त हैं, न अमूर्त हैं, अर्थात् परमाणु कोई चीज नहीं है। तो यदि संसार को मिश्र वस्तुओं से बना हुआ मानें, अर्थात् अवयवियों से बना हुआ मानें, तो अवयवी को अवयव अवश्य होना चाहिए, इसलिए ये ही अवयव परमाणुरूप सिद्ध हुए। अब बड़ी सन्दिग्धता आ पड़ी कि परमाणु हैं या नहीं हैं।

ऐसे ही, प्रत्येक कार्य का नियतपूर्व कारण है या कारणहीन भी कोई कार्य है। यदि समस्त संसार कारण से नियत है, तो कारणों की अवस्था है; क्योंकि कोई आदि कारण तो स्वतन्त्र है नहीं, यदि आदि कारण कोई मानें, तो वह वस्तु, जो सबका आदि है और कुछ काल तक स्वतन्त्र निष्कार्य रहके किसी कार्य को उत्पन्न करती है, सो क्यों कार्योत्पादनक्षम हो जाती है, उसमें कार्योत्पादन-शक्ति कहाँ से आती है। इसलिए न आदि कारण मानते ही बनता है, न नहीं मानते बनता है।

अब यदि स्वतन्त्र ईश्वर को संसार का कारण मानें, तो एक और प्रश्न उठता है कि यह संसार के भीतर है या बाहर। यदि भीतर में है, तो या तो आरम्भ में होगा या समस्त संसारस्वरूप ही होगा। पर आरम्भ तो एक क्षण है, तो उसके पहले कोई क्षण था या नहीं। यदि आरम्भ के पहले भी क्षण था, तो आरम्भ को आरम्भ ही नहीं कह सकते। और पहले क्षण नहीं था, यह असम्भव मालूम होता है; क्योंकि काल अनादि और अनन्त है। और, यदि स्रष्टा को सृष्टि के बाहर मानते हैं, तो देश-काल भी सृष्टि में अन्तर्गत है; इससे स्रष्टा देश-कालातीत होता है, और ऐसी वस्तु का देश-काल से सम्बन्ध नहीं हो सकता और न उससे देशकालावच्छिन्न संसार की सृष्टि हो सकती है।

इस ढंग से सृष्टिवाद के विरोध दिखाये गये। ऐसे ही, आत्मवाद और ईश्वरवाद में भी अनुपपत्तियाँ काण्ट ने विस्तारपूर्वक दिखाई हैं, जिनको यहाँ संक्षेप से कहा जाता है।

डेकार्ट ने सिद्ध करना चाहा है कि मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ। पर इससे यह नहीं निकला कि मैं कोई स्वतन्त्र द्रव्य हूँ। मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं सोचनेवाला हूँ। इस क्षणिक विज्ञान के अतिरिक्त सोचने से और कुछ सिद्ध नहीं होता; इस विज्ञान का आश्रय कोई

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

द्रव्य है या नहीं, यह बुद्धि से सिद्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार, जब आत्मा क्षणिक विज्ञान-रूप है, तो आत्मा को शुद्ध, अमूर्त, अमर इत्यादि भी कैसे कह सकते हैं।

आत्मा और सृष्टि का खण्डन कर बड़े विस्तार से काण्ट ने ईश्वर के प्रमाणों का खण्डन किया। ऐन्सेल्म, डेकार्ट आदि ने कहा है कि यदि ईश्वर कोई वस्तु न होता, तो ईश्वर का प्रत्यय हृदय में कैसे आता। पर इसका खण्डन तो गानिलो ने ही किया है। मनुष्य के हृदय में ईश्वर की कल्पना होने से यदि उसकी पारमार्थिक स्थिति मानते हैं, तो जितने भिक्षुक संसार में हैं, वे मन में अशर्फियों की कल्पना कर उनकी वास्तव स्थिति कर लें और करोड़पति हो जायें। इस ईश्वर का प्रत्ययमूलक प्रमाण (Ontological Proof) असिद्ध हुआ। अब यदि दूसरा कार्य-कारण-भावमूलक प्रमाण (Cosmological Proof) लें, तो भी बड़ी आपत्तियाँ आती हैं। तार्किक ने कहा है कि सम्पूर्ण संसार कार्य है, इसलिए इसका कारण कोई अवश्य होगा; क्योंकि प्रथम कारण न मानें, जो कि स्वयम्भू और नित्य है, तो एक का कारण दूसरा, उसका तीसरा, ऐसा ही चलता जाय और अनवस्था आ पड़े। पर इन लोगों ने यह नहीं समझा कि स्वयम्भू नित्य अकार्य, अविक्रिय ईश्वर का भला कार्य और विकार-सम्बन्ध ही कैसे हो सकता है, और उसमें भी विकार मानें तो ईश्वर अनित्य हो जाता है। यदि किसी प्रकार का सम्बन्ध मान भी लिया जाय, तो भी वह कारण प्रकृत या अव्यक्त जडस्वरूप है या कि भक्तों का साकार परमेश्वर है, यह निश्चय कैसे हुआ।

अब चलो, तीसरा प्रमाण प्रयोजनमूलक (Telelogical Proof) लो। इसके अनुसार, इस संसार में बिना प्रयोजन कोई वस्तु नहीं देखते। प्राणियों के अंग, संसार की छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी चीजें सभी किसी प्रयोजन के लिए बनी हुई जान पड़ती हैं। ऐसे सार्थक संसार का कर्ता अवश्य अनन्त ज्ञानवान् और पूर्ण बुद्धिमान् है। इन बात को लेकर व्याख्याता लोग और उपदेशक लोग खूब वक्तृताबाजी कर जाते हैं और लोगों के चित पर इस प्रमाण का बहुत बड़ा असर पड़ता है, पर वैज्ञानिक दृष्टि से देखें, तो यह प्रमाण अत्यन्त तुच्छ और सर्वथा असंगत है। भला देखिए तो, मनुष्य अनेक कोटि सूर्य, चन्द्र आदि से युक्त इस संसार के एक पृथ्वीरूप कण को देखता है। उस सम्पूर्ण पृथ्वी को भी समस्त भागों में किसी ने नहीं देखा है। पृथ्वी पर की वस्तुओं के स्वभावों का मनुष्य को ज्ञान नहीं है। ऐसी अवस्था में प्रमेय के एक कण को देखकर अप्रमेय विषयों पर तर्क करना वैसा ही भ्रम है, जैसे फल के कीड़े, फल के भीतर जैसी व्यवस्था है, उसको समस्त संसार मानते हैं। और भी देखिए, वैज्ञानिक प्रमाणों से द्रव्य तो अनश्वर है, तो उसकी सृष्टि और संहार ईश्वर कैसे कर सकता है। वृक्ष, पर्वत, तारा आदि समस्त जगत् तो स्वाभाविक सिद्ध तर्कहीन देख पड़ता है, तो थोड़े-से कृत्रिम घट, पट आदि के दृष्टान्त से उन्हें सकर्तृक माना जाय या वृक्षादि दृष्टान्तों से जिन्हें स्वप्न में मनुष्य नहीं बना सकता, अकर्तृक माना जाय? इसके अतिरिक्त एक और बात है। प्रयोजन से ईश्वर की सिद्धि करते हो। तुम्हारा प्रयोजन क्या है? वस्तुओं में समवेत प्रयोजन है या तुम्हारी भक में प्रयोजन सूझ

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

गया, इसलिए उसे मानते हो। वस्तुओं में प्रयोजन रह नहीं सकता और झक की बात हो, तो उसे मानना ही क्यों।

इस प्रकार, काण्ट ने यह दिखाया है कि संविद्वाद, परमाणुवाद, ईश्वरवाद आदि सभी दार्शनिक कल्पनाएँ असिद्ध हैं। बाह्य वस्तु अनिर्वचनीय है, उसकी प्रमाता आत्मा अनिर्वचनीय है, इन दोनों अनिर्वचनीयों का सम्बन्ध अनिर्वचनीय है। इस सम्बन्ध से जो स्वप्नवत् आभास होता है, वही संसार इस संसार का परमार्थ क्या है, यह नहीं कह सकते। पर जिसे हम वस्तु और संसार समझते हैं, वह केवल बौद्ध विज्ञानरूप है, उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं हैं।

इस प्रकार, ज्ञानशक्ति का वर्णन कर काण्ट ने कृतिशक्ति का वर्णन अपने 'कृतिशक्ति की परीक्षा' (Critique of Practical Reason) नाम ग्रन्थ में किया है। ज्ञानशक्ति से दार्शनिकों ने आत्मा आदि का प्रमाण दिया है, सो भी असंगत है और नास्तिकों का बाह्य वस्तुवाद भी असंगत है, जैसा ऊपर दिखाया गया है। कृतिशक्तिमूलक ईश्वर आदि में विश्वास मनुष्य का है—इसकी सिद्धि ज्ञानशक्ति के द्वारा नहीं हो सकती।

प्रकृति के नियम अपरिहार्य हैं, उनके उलटा कोई कार्य हो नहीं सकता। पर, आचार के नियम भलाई के लिए आवश्यक हैं, अपरिहार्य नहीं हैं। कर्तव्य का लंघन मनुष्य कर सकता है। केवल लंघन अनुचित है, असम्भाव्य नहीं है। इसलिए मनुष्य का स्वातन्त्र्य सिद्ध हुआ। ज्ञानशक्ति से इस स्वातन्त्र्य का प्रमाण नहीं दिया जा सकता, पर कृतिशक्ति ने स्वभावतः स्वातन्त्र्य सिद्ध किया। मनुष्य, धर्म चाहे अधर्म करे, जैसा करेगा, वैसा फल, पायगा। प्रकृति के नियम अपरिहार्य हैं, पर इनकी गति प्रमेयपर्याप्त है, अर्थात् केवल प्रत्ययगोचर विषयों ही तक है। अप्रमेय पारमार्थिक वस्तु में प्रकृति के नियमों की गति नहीं है। इसलिए आत्मा स्वतन्त्र है। यह स्वातन्त्र्य अप्राकृत और कृतिशक्ति से निश्चित है दिक्काल से परिच्छिन्न संसार और हमारे सांसारिक कार्य प्रकृति के नियमों से शृंखलित हैं। पर, कृतिशक्तिशालिनी आत्मा अप्राकृत और स्वतन्त्र दिक्काल से अपरिच्छिन्न है। यह आत्मा अमर है; क्योंकि अपरिच्छिन्न अप्रमेय का नाश नहीं हो सकता है।

अपने तीसरे ग्रन्थ में, जिसका नाम 'उत्तमता-ज्ञान की परीक्षा' (Critique of Judgment) है, काण्ट यह ने दिखाया है कि बुद्धिशक्ति से सत् का ज्ञान होता है। प्रकृति का नियम बुद्धिशक्ति का विषय है। उचित की ओर कृतिशक्ति जाती है। स्वातन्त्र्य इसका मुख्य विषय है। उपयोगिता का ज्ञान प्रयोजनग्राहक शक्ति (Teleological Sense) से होता है। सौन्दर्य वह है, जो सबको अवश्य अच्छा लगे। इसमें 'सब' परिमाण का अंश हैं, 'अच्छा' गुण का अंश है और 'अवश्य' प्रकार का अंश है। अद्भुत (Sublime) से क्षोभ होता है। सौन्दर्य (Beauty) से शान्ति होती है। सौन्दर्य का ग्रहण कभी प्रयोजननिरपेक्ष और कभी प्रयोजनसापेक्ष होता है। जिससे कोई कार्य सिद्ध हो, उसे लोग अच्छा समझते हैं। पर यह बात नियत नहीं है। कितनी चीजें हैं,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

जिनसे मनुष्य का कार्य नहीं चलता, तथापि उसके चित्त के अनुसार ये चीजें बनी हैं, इससे उन्हें वह अच्छा समझता है ।

चतुर्थ अध्याय

फिक्ट—जर्मनी के चार बड़े दार्शनिकों में से प्रथम काण्ट था, द्वितीय फिक्ट था, जिसका दर्शन यहाँ कहा जाता है । तृतीय सेलिंग और चतुर्थ हेगेल के दर्शन शीघ्र ही लिखे जायेंगे । योहान गौटलीब फिक्ट कई स्थानों में अध्यापक था; अन्त में बर्लिन में अध्यापक था; जब इसकी मृत्यु हुई । इसका मुख्य ग्रन्थ 'ज्ञान का उपपादन' है ।

फिक्ट सेलिंग, हेगेल—ये तीनों यद्यपि काण्ट के परीक्षावाद के बाद हुए, तथापि परीक्षानिरपेक्ष अपूर्व कल्पना इन लोगों की हुई है, जिससे कभी-कभी ये लोग कल्पनाप्रधान दार्शनिक (Romantic Philosophers) समझे जाते हैं ।

फिक्ट के अनुसार, उत्तमता का ज्ञान, अर्थात् विवेक ही आत्मा का स्वरूप है । कृतिशक्ति और विवेक दोनों एक हैं और यही कृतिशक्ति वास्तव सत्ता है । दृश्य संसार असत् है । सर्वव्यापिनी सर्वस्वरूपा कृतिशक्ति का सूचक और अनुमापक यह समस्त जगत् है । इस कृतिशक्तिमय विवेक का प्रथम कार्य स्वव्यवस्थापन है । जैसे सब प्रकाश सूर्य होता है, उसके लिए दीपान्तर की अपेक्षा नहीं, वैसे ही इस कृतिशक्ति का ग्राहक दूसरा नहीं है । यह स्वप्रमितिक है । केवल स्वप्रमितिक नहीं, स्वप्रकृतिक भी है, अर्थात्, इसका कारण कोई दूसरा नहीं है ।

बुद्धि के तीन कार्य हैं—स्वव्यवस्थापन, विषयोपन्यास और इन दोनों का परस्पर परिच्छेद । वस्तुतः ये तीनों कार्य—व्यवस्थापन, विरोध और समावेश (Thesis, Antithesis and Synthesis) एक हैं । अहम्भाव से जब बुद्धि अपने को प्रकाश करती है, उसी समय साथ-ही-साथ अहम्भिन्न विषयों का उपन्यास स्वयं हो जाता है । साधारणतः, जान पड़ता है कि संसार बाह्य वस्तु है । यह भ्रम दार्शनिकों को भी प्रायः लगा ही रहता है । पर, वस्तुतः कृतिशक्ति अपने को अपने ही से बाँधती है और विषयों को पृथक् दिखलाती है । कैसा ही ज्ञानी मनुष्य हो, ज्ञान में भी अहं और अनहं का भेद अवश्य रह जाता है । इस भेद का लोप केवल कृतिशक्ति कर सकती है । स्वाधीन ज्ञान-विषय के बन्धन से मुक्त होना मनुष्य चाहता है, पर इस अवस्था तक पहुँच नहीं सकता । जैसा काण्ट ने कहा है कि वास्तव स्वतन्त्रता कृतिशक्ति को है, वही ठीक समझना चाहिए। यही स्वातन्त्र्य परमार्थ सत् है । ज्ञानशक्ति इसी कृतिशक्ति का उपायस्वरूप है । ज्ञानशक्ति वस्तुतः भिन्न नहीं है. कृतिशक्ति तक पहुँचने की एक सीढ़ी है । परमात्मा, फिक्ट के अनुसार, कोई पृथक् वस्तु नहीं है । एक ही आत्मा अनेक पुरुषों के रूप में कृतिशक्ति की पूर्णता का प्रकाश कर रही है ।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

फिक्टे का सर्वोत्तम शिष्य सेलिंग था, जिसने अपना एक नया ही दर्शन निकाला। लिगन्बर्ग नगर में इसका जन्म हुआ था। योना आदि विश्वविद्यालयों में यह अध्यापक था। फिक्टे और हेगेल, इन दोनों बड़े दार्शनिकों से इसकी मैत्री थी।

सेलिंग—सेलिंग ने यह दिखाया है कि फिक्टे के अनुसार आत्मा की स्वाभाविक सृष्टि है। आत्मा स्वयम्भू है, जिससे स्वभावतः संसार का आभास होता है। पर इसमें यह विरोध पड़ता है कि यदि आत्मा की बेखबरी में स्वभावतः संसार उद्भूत होता है, तो आत्मा सृष्टि की अवस्था में अज्ञ हुई और अज्ञ हुई, तो आत्मा ही नहीं है। अहंज्ञान जिसे है, वही तो आत्मा है। अज्ञ को आत्मा कैसे कह सकते हैं। आत्मा, अनात्मा दोनों परस्पराधीन हैं। विषयों की स्थिति हो, तो उनकी ज्ञाता आत्मा सिद्ध हो और ज्ञाता सिद्ध हो, तो उसका ज्ञेय संसार सिद्ध हो। इसलिए आत्मा अनात्मा हुई या अनात्मा से आत्मा हुई, यह कुछ निश्चय नहीं हो सकता।

इसलिए न आत्मा स्वयम्भू और स्वतन्त्र है, न अनात्मा। यदि स्वयम्भू कोई वस्तु है, तो वह आत्मा-अनात्मा दोनों से भिन्न है। वहाँ आत्मा-अनात्मा का भेद ही नहीं है। अहं और अनहं आत्मा-अनात्मा, उभय से भिन्न, दोनों का मूल स्वयम्भू और स्वतन्त्र है। न आत्मा से अनात्मा हुई, जैसा संविद्वादी कहते हैं, और न अनात्मा से आत्मा हुई है, जैसा नास्तिक कहते हैं। इन दोनों का मूल कूटस्थ दोनों से भिन्न है। आत्मा और अनात्मा, ये दो उस मूल तत्त्व की सांसारिक सृष्टि हैं। ज्ञान में दोनों का सम्बन्ध अपेक्षित है। न केवल आत्मा को ज्ञान का सम्भव है, न केवल अनात्मा को। इसलिए दर्शन के दो भाग हैं—आत्मशास्त्र और प्रकृतिशास्त्र। ज्ञाता और ज्ञेय में परस्पर विरोध नहीं है। दोनों एक ही मूलतत्त्व से आविर्भूत हैं, इसलिए दोनों एक भाव से चलते हैं। प्रकृति आत्मा ही की छाया है। जैसे-जैसे आत्मा चलती है, वैसे-वैसे प्रकृति चलती है।

सम्पूर्ण संसार में आत्मशक्ति व्याप्त है। वस्तुतः, निर्जीव कोई वस्तु नहीं है। जड द्रव्य उद्भिज्जों के मूल हैं। उद्भिज्जों से प्राणियों का आविर्भाव है। मानव-मस्तिष्क इस सर्वव्यापिनी जीवशक्ति का सर्वोत्तम उदाहरण है। चुम्बक-शक्ति, वैद्युत शक्ति, संवेदन-शक्ति, ये सब इसी जीवशक्ति के स्वरूपविशेष हैं। सर्वथा मृत और सर्वथा जड कुछ भी नहीं है। हमें देख पड़े या नहीं, समस्त संसार सजीव और गतिमय है।

संवेदन, प्रत्यक्ष और चिन्तन—ये तीन बुद्धि के कार्य हैं। प्रयत्नावस्था में यही बुद्धि कृतिशक्ति कही जाती है। उपन्यास, विरोध और समावेश बुद्धि के कार्य हैं। ये ही तीन अवस्थाएं ऐतिहासिक वार्त्ताओं में भी देखी जाती हैं। संसार में पहले दैव का उपन्यास हुआ। मनुष्य सर्वथा दैवाधीन थे, स्वयं कुछ कार्य नहीं कर सकते थे। जंगलों में दैवाधीन स्वाभाविक वृत्ति से रहते थे। द्वितीय अवस्था विरोधावस्था है, जिसे रोमन लोगों ने आरम्भ किया। अपनी कृतिशक्ति से रोमन लोगों ने दैव को दबाना चाहा। यही दैव और पौरुष के विरोध की अवस्था अभी तक चली जाती है। धीरे-धीरे तीसरी अवस्था

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

भविष्यत् काल में आवेगी, जिसमें पौरुष और दैव का फिर यथास्थान समावेश और मेल हो जायगा। जैसा पौरुष का उद्देश्य होगा, वैसी ही प्रकृति की गति होने लगेगी।

ज्ञान के द्वारा मनुष्य सर्वकारण ब्रह्म तक पहुंचना चाहता है। पर वैद्युत दण्ड के दोनों ध्रुवों में जैसा विरोध रहता है, वैसे ही ज्ञाता और ज्ञेय, अहं और अनहं का भेद मिटता नहीं है। विज्ञान तक पहुंचने से, फिर भी ईश्वर ज्ञेय और जोव ज्ञाता रह जाता है। जबतक आनन्दमय कोष में न पहुंचे, तबतक वास्तव कैवल्य नहीं होता। प्रकृति में शिल्प का सौन्दर्य जहाँ हो, उसीके ग्रहण में वास्तव आनन्द और ज्ञाता और ज्ञेय का अभेद होता है। अन्त में बीन आदि धर्मवादियों के मतों का परिशोलन करते-करते सेलिंग सर्वेश्वरवादी से एकेश्वरवादी हो गया। बाइबिल आदि भक्तिशास्त्रों में जैसा सगुण त्रिमूर्ति ईश्वर वर्णित है, वैसा ही सेलिंग भी मानने लगा। यह अन्तिम दर्शन केवल धर्मवादियों के उपयोग का है, शुद्ध दर्शन से इसे कम सम्बन्ध है, इसलिए यहाँ इसका विवरण नहीं किया गया।

पंचम अध्याय

हेगेल—सेलिंग का मित्र, जर्मनी के प्रधान दार्शनिकों में से एक, हेगेल था। जार्ज विल्हेल्म फ्रेड्रिक हेगेल का जन्म स्टटगार्ट नगर में हुआ। अन्त में यह बर्लिन नगर में अध्यापक होकर मरा। तीन ग्रन्थ इसके मुख्य हैं—'प्रमेयशास्त्र' (Plenomenology), 'तर्कशास्त्र' (Logic) और 'दार्शनिक तत्वों का संग्रह' (Encyclopedie der Philosophischen Wissenschaften)। अन्तिम ग्रन्थसंग्रह के अन्तर्गत छोटा तर्क का भाग है। प्रायः हेगेल के सब विषय उसी के पठन से विदित हो सकते हैं।

फिक्ट के मत से आत्मा ब्रह्म है। पर आत्मा यदि अनात्मा से परिच्छिन्न है, तो अस्वतन्त्र हुआ, इसलिए उसे ब्रह्म नहीं कह सकते। सेलिंग के मत से, ब्रह्म, आत्मा और अनात्मा, उभय से भिन्न, उदासीन है। तो उदासीन से किसी कार्य का उद्भव कभी सम्भव नहीं है। फिर उससे आत्मा और अनात्मा, दोनो कैसे उद्भूत हुए। इसलिए, हेगेल ने उपपादन किया है कि आत्मा और अनात्मा, दोनों से बाह्य ब्रह्म नहीं है। ब्रह्म के आत्मा और अनात्मा दोनों ही स्वरूप हैं। क्रिया, ज्ञान, जीवन आदि जिस शक्ति के रूपविशेष हैं, वही ब्रह्म है।

मनुष्य की बुद्धि की और प्रकृति की दोनों की नियामिका विवेकशक्ति है। इस विवेक के जो विशेष रूप हैं, वे ही आन्तर और बाह्य दोनों पदार्थ हैं। मनुष्य के चित्त में जिस क्रम से विवेक के विशेष रूपों का उद्भव होता है, वही सृष्टि के उद्भव का है। तो, जब ब्रह्म संसार हो में समवेत (Immanent) है और सृष्टि का क्रम और विवेक-

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

शक्ति के चित्त में आविर्भाव का क्रम एक है, तो 'ब्रह्म, सृष्टि आदि विषय मनुष्य-बुद्धि के अविषय हैं', यह जो काएट ने कहा है, सो सर्वथा असंगत है, 'मनसंवेदमासव्यम्' यह जो लोग कहते हैं, उन्हीं का कहना सर्वथा संगत है।

विवेकशक्ति को स्वतन्त्र कार्य करने देना और उसके एक स्वरूप से दूसरा स्वरूप कैसे निकलता है, इसका अन्वेषण करना ही दार्शनिकों का मुख्य कार्य है। दार्शनिक लोग इस रीति को आन्तर तर्क (Dialectic method) कहते हैं। इस दर्शन को तर्कशास्त्र (Logic) कहते हैं। इस तर्क में सत्ताशास्त्र और मनःशास्त्र, दोनों एक हो जाते हैं; क्योंकि मानस शक्ति के स्वरूपों का आविर्भाव उसी क्रम से है, जैसा बाह्य वस्तुओं के आविर्भाव का क्रम है।

सबसे पहले चित्त में सत् का ज्ञान होता है। कुछ है, ऐसा सबसे पहला खयाल है। सत् ही के भेद और सब पदार्थ हैं। इस सत् में द्वैत छिपा हुआ है; क्योंकि अपरिच्छिन्न सत्ता असत् के तुल्य है। कुछ है, पर क्या है—काला, पोला, नोला, कैसा वह सत् है--यह जबतक ज्ञान नहीं है, तबतक उस सत् में और असत् में क्या भेद है। अब, यह सत्ता उभयात्मक है। सदसत्, दोनों ही उसमें हैं, इसीलिए इन दोनों वस्तुओं का कहीं समावेश होना चाहिए। सत् और असत्, दोनों विरोधियों का समावेश भाव में होता है। संसार में जितने भाव, अर्थात् पदार्थ हैं, वे इसी सदसत् के रूप हैं। इसी प्रकार नये-नये भेद होते जाते हैं, उनका किसी तृतीय वस्तु में समावेश होता है। अन्ततः सब भेदों का समावेश चित्तस्वरूप स्वतन्त्र परब्रह्म (Absolute Idea) में होता है। हेगेल ने यह दिखलाया है कि विरोध से दार्शनिक को डरना नहीं चाहिए। यह समस्त संसार विरुद्ध-गुणमय है। प्रभा का ज्ञान अन्धकार के ज्ञानाधीन; अन्धकार का ज्ञान प्रभा के ज्ञानाधीन है।

सत् और असत् का समावेश होकर भाव बनता है। अर्थात्, सत् और असत्, दोनों मिलकर परिच्छिन्न सत्ता होती है। परन्तु ये परिच्छिन्न भाव अनन्त असंख्य हैं, अर्थात्, एक प्रकार से अपरिच्छिन्न हैं। यह विरोध परिच्छिन्न और अपरिच्छिन्न व्यक्ति में मिल जाता है। व्यक्ति दोनों ही हैं, परिच्छिन्न भी और अपरिच्छिन्न भी। व्यक्ति वस्तुतः अपरिच्छिन्न का परिच्छिन्न रूप से आविर्भाव है और परिच्छिन्न सर्वथा अपरिच्छिन्न से भिन्न नहीं है; क्योंकि भिन्न होता, तो दोनों ही परस्पर बहिर्भूत होने के कारण परिच्छिन्न ही हो जाते। इस प्रकार सत्ता, जो शुद्ध गुण है, परिच्छिन्न व्यक्ति होकर परिणामस्वरूप हो गई।

यही परिणाम द्रव्य का मूल है। सत् अव्यक्त है। द्रव्य उसी का विकसित रूप है, जिसका ग्रहण शीघ्र हो सकता है। द्रव्य के स्वरूपों में परस्पर सम्बन्ध है। इसलिए द्वन्द्व-रूप से द्रव्य का विकास हुआ। द्रव्य और दृश्य, शक्ति और प्रकाश, तन्मात्र और आकार, मूल और गुण, कारण और कार्य आदि द्रव्य के स्वरूप हैं। द्रव्य और गुण, दोनों सहचारी हैं। एक दूसरे से पृथक् नहीं हो सकता। वस्तुतः, द्रव्य और गुण एक ही हैं। गुणों को निकाल दीजिए, तो द्रव्य कुछ बचेगा ही नहीं। द्रव्य, गुण आदि के द्वन्द्व, जो ऊपर कह आये हैं, इन्हीं का मेल प्रकृति है। प्रकृति का अर्थ है, क्रियाशक्ति या सृष्टिशक्ति। इसी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रकृति से सब वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और सब इसी में फिर लीन होती हैं। पुनः-पुनः यही उत्पत्ति और लय होता रहता है। शान्ति और स्थिरता, कूटस्थता और उदासीनता भ्रम-मात्र है। क्रियाशक्ति पारमार्थिक है। निष्क्रिय कोई पदार्थ नहीं है। सत्ता और क्रिया, दोनों का एक ही आकार है, जो सत् है, सो सक्रिय है, जो सक्रिय है, सो सत् है।

अपने दृश्य रूपों से अतिरिक्त कोई मूल द्रव्य नहीं है। इसलिए, संसार से अतिरिक्त ईश्वर, और मानस शक्तियों से अतिरिक्त आत्मा, तथा गुणों से अतिरिक्त द्रव्य, नहीं मानना चाहिए। धार्मिकों का उदासीन ईश्वर, तार्किकों की आत्मा और वैज्ञानिकों का द्रव्य, सर्वथा भ्रममूलक हैं। कार्य और कारण दोनों एक हैं। सत्कार्यवाद ही सिद्धान्त है। इसलिए द्रव्य और गुण एक हैं। गुण और गुणी में वास्तव भेद नहीं है; क्योंकि गुणी गुणों का कारण है। कार्य और कारण एक हैं, यहाँतक कि मृत्तिका का कारण घट है या घट का कारण मृत्तिका है, यह भेद करना व्यर्थ है, दोनों परस्पराश्रित और अभिन्न हैं। यदि कार्य न हो, तो कारण में कारणता ही नहीं आवे और यदि कारण न हो, तो कार्य न हो, इसलिए कार्य-कारण वस्तुतः एक हैं। वर्षा से पानी आता है, वही पानी फिर सूखकर सूर्यकिरणों के द्वारा आकाश में मेघरूप होता है और फिर बरसता है। इसलिए, वर्षा का कारण पानी और पानी का कारण वर्षा है, अर्थात् दोनों एक हैं, यही कहना उचित है। इसलिए, ब्रह्म कार्यरूप है वा कारणरूप है; यह अन्वेषण व्यर्थ है, ब्रह्म तो उभयरूप है; क्योंकि कार्य और कारण में भेद ही नहीं है। एक सत्ताशक्ति, सबके पहले, सर्वशक्तिविशिष्ट थी, जिससे अल्पशक्तिविशिष्ट सांसारिक पदार्थ हुए हैं—यह समझना भ्रम है। शक्ति तो एक ही है। अनेक शक्ति कार्य और एक शक्ति इनका कारण, यह भेद समझना ही भ्रम है।

यह समष्टि (जिसमें कार्य-कारण सब एक हैं) दो स्वरूपों में विभक्त है, एक आन्तर समष्टि और दूसरी बाह्य समष्टि। आन्तर समष्टि का यह कार्य है, जिससे एक सामान्य गुण प्रति व्यक्ति में मनुष्य लगाता है। व्यक्ति और जाति के ऐक्य का ग्रहण इसी समष्टि से होता है। यह जन्तु गाय है, ऐसा जब हम कहते हैं, तो 'यह एक जन्तुविशेष व्यक्ति है और गाय सामान्य जाति है', इन दोनों का अभेद कैसे हुआ। यह अभेद आन्तर समष्टि का कार्य है।

आन्तर समष्टि का स्वभाव है, बाह्य आकार धारण करना। इसलिए जो खयाल मनुष्य के चित्त में आता है, वैसा बाह्य वस्तु का आविर्भाव होता है। पहले एक मकान का नक्शा चित्त में मनुष्य खींचता है, फिर उसी के अनुसार बाह्य समष्टि उसे आन्तर समष्टि के आकार का बनाती है। सम्पूर्ण संसार आन्तर समष्टि का अवतार या बाह्य आविर्भाव है।

सामान्य, विशेष और व्यक्ति—ये तीन रूप आन्तर समष्टि के हैं। गाय सामान्य है। यह जन्तु विशेष है। यह गाय दोनों का ऐक्य, अर्थात् व्यक्ति है। इन तीन पदार्थों (सामान्य, विशेष और व्यक्ति) का बाह्य आविर्भाव क्रमशः संयोग, समवाय और जीवन

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

(Mechanism, Chemism and Organism) इन तीन रूपों में होता है।

जैसे प्रत्यय आन्तर है, पर उसका धर्म है मूर्त होना, वैसे ही मूर्त वस्तु का धर्म है प्रत्यय रूप से चित्त में आना। यह जो आन्तर और बाह्य का भेद है, अर्थात् मूर्त और अमूर्त का भेद है, सो अपरिच्छिन्न तुरीय प्रत्यय में जाकर मिल जाता है, जिसे सच्चित्स्वरूप स्वतन्त्र सत्ता का परम स्वरूप कहते हैं। यहाँ पहुंचने पर फिर और कुछ अवशिष्ट नहीं रह जाता। आत्मबोध आत्मारामत्व यहाँ ही मिल जाता है।

जैसे सत् उभयात्मक है, अर्थात् असत् और सत् दोनों का ऐक्य है, जैसा कि ऊपर दिखा चुके हैं, वैसे ही बाह्य समष्टि में आकाश है। सब वस्तु आकाश में है, इससे यह सत् है, पर कोई विशेष गुण इसके नहीं जान पड़ते, इसलिए इसे लोग शून्य, अर्थात् असत् कहते हैं। यही शून्य, जो विशेष रूप के अभाव के कारण असत् है और सबका अधिकरण होने के कारण सत् है, यही गति का मूल है। इसी गति से पृथक् सूर्य, चन्द्र आदि व्यक्तियों का आविर्भाव हुआ। आकर्षण-शक्ति इस गति ही का स्वरूप है। इसी आकर्षण के कारण संसार एक और परस्पर सम्बद्ध है, नहीं तो प्रत्येक परमाणु पृथक् हो जाते और संसार का पता नहीं लगता। अपरिच्छिन्न द्रव्य से परिच्छिन्न सूर्य आदि हुए। परिच्छेद का मूल गुरुत्व है। गुरुत्वविशिष्ट ताराओं में परस्पर आकर्षण के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध नहीं है। गुरुत्वप्रयुक्त परिमाणभेद के बाद द्रव्यों में गुणभेद उत्पन्न होता है। द्रव्यों में परस्पर संयोग और वियोग, मैत्री और विरोध आदि के कारण प्रभा, उष्णता, वैद्युत शक्ति आदि गुण उद्भूत होते हैं। आकर्षण से केवल बाह्य परिवर्त्तन होते थे, अब गुणभेद होने से द्रव्य के अभ्यन्तर तक परिवर्त्तन होने लगा। इस शास्त्र में अम्लजनक और जलजनक के सम्बन्ध से सर्वथा भिन्न गुण का जल उत्पन्न होने का वर्णन इस आन्तर सम्बन्ध का एक उदाहरण है।

इसी आन्तर सम्बन्ध का दूसरा रूप जीवनशक्ति है। जो सम्बन्ध पहले आकर्षण-रूप से प्रकाशित हुआ था, वही रसों में आन्तर सम्मिलन-शक्ति हुआ और वही प्राणियों में प्राणशक्ति है। पार्थिव शक्ति से वृक्ष का अंकुर उत्पन्न होता है, उस अंकुर से अन्न के द्वारा वही सर्वव्यापिनी शक्ति प्राणियों में आती है। यही प्राणशक्ति क्रम से छोटे जन्तुओं के रूप में प्रकट होकर शुक्ति, कीट, मत्स्य, सरीसृप, जरायुज आदि परम्परा से अन्ततः मनुष्य-रूप से प्रकट होती है। आधिभौतिक सृष्टि में मनुष्य का शरीर सर्वोत्तम है। अब यहाँ से आध्यात्मिक सृष्टि की ओर चलना चाहिए।

मनुष्य के चित्त का स्वातन्त्र्य और ज्ञान दो धर्म हैं। पहले, जंगली अवस्था में, मनुष्य को ज्ञान भी पूर्ण रूप से नहीं रहता और स्वातन्त्र्य सब अपना ही अपना चाहते हैं। धीरे-धीरे और मनुष्यों के भी स्वातन्त्र्य की दृष्टि मनुष्य को होने लगती है और सामाजिक जीवन का आरम्भ होता है, जिससे स्वार्थ की दृष्टि घटने लगती है। कामक्रोधमय जीवन पसन्द नहीं आता और सब समाज की भलाई पर दृष्टि होने लगती है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

पहले, काम, क्रोध आदि जो नियमहीन थे, अब उनका दमन मनुष्य करता है। अपने नियमों में लाकर उनसे कार्य लेना आरम्भ करता है। विवाह से काम का दमन, और नैतिक दण्डों से क्रोध का दमन होता है। नियम सामाजिक जीवन का प्रधान स्वरूप है। औचित्य नियम का प्रथम आविर्भाव है। प्रत्येक व्यक्ति को अपना स्वत्व है, जिसे वह चाहे अपने लिए रख सकता है, या किसी दूसरे को दे सकता है। जब समाज की इच्छा के प्रतिकूल कोई व्यक्ति चलता है, उस समय औचित्य और अनौचित्य दोनों के रूप स्पष्ट होते हैं। यद्यपि कभी-कभी अनुचित विषयों का प्रचार हो जाता है, तथापि सामाजिक दण्ड उसका अवश्य होता है और अन्ततः उचित की विजय होती है। दण्ड उदाहरण-स्वरूप है। इसका उद्देश्य केवल व्यक्ति का संशोधन नहीं है, किन्तु समस्त समाज में वह उचित के बोध का फल दिखलाता है। परन्तु जब मनुष्य के हृदय में उचितानुचित का विवेक होने लगे, तब समाज को दशा अच्छी समझनी चाहिए। केवल दण्ड के भय से अनुचित का परिहार हुआ, तो क्या हुआ।

हेगेल के अनुसार, विवाह, अर्थात् गृहस्थाश्रम, समाज और राज्य के मंगल का मूल है। कुटुम्ब के जीवन के बाद राज्य का आरम्भ होता है। राज्य एक बड़ा कुटुम्ब है, जिसमें समस्त की भलाई की ओर दृष्टि रहती है। व्यक्तिगत भलाई का खयाल न कर समस्त की भलाई राज्य ही में सम्भव है। जो राज्य औचित्य का अनुसरण करता है, उसी को विजय होती है। अनुचित के अनुसरण करनेवाले की पराजय होती है।

पर कितनी भी उन्नति कुटुम्ब में, समाज में या राज्य में हो, अन्तिम उद्देश्य और पूर्ण शान्ति मनुष्य के इन विषयों से सिद्ध नहीं होती। कला, विज्ञान और धर्म, ये तीन स्वच्छन्द विषय चित्त को वास्तव शान्ति के लिए हैं। कुटुम्ब, समाज और राज्य, ये सब यहाँ पहुँचने की सीढ़ियाँ हैं। प्रकृति का स्वभाव है कि जिन सीढ़ियों से अन्तिम उद्देश्य का लाभ होता है, वे सीढ़ियाँ भी सुरक्षित रहती हैं, उनसे फिर भी कार्य रहता है। इसलिए, कुटुम्ब आदि की रक्षा करते मनुष्य को कला, धर्म और विज्ञान, इन तीनों पुरुषार्थों की भी सिद्धि करनी चाहिए।

मनुष्य का चित्त पहले स्वार्थ पर था, उसके बाद सामाजिक बुद्धि का आविर्भाव हुआ, जिसमें स्वार्थ और पदार्थ, दोनों का खयाल होने लगा, फिर अन्ततः अपने में लौटकर सौन्दर्य, ईश्वर और सत्य में (अर्थात्, सच्चिदानन्दमय ईश्वर में) मिलकर आत्माराम होता है और परम सुखी और स्वतन्त्र हो जाता है।

इस अवस्था में भी क्रम है। स्वातन्त्र्य की पहली सीढ़ी कला है। कला के आनन्द में वह रस उत्पन्न होता है, जिसे महाकवि ही लोग जानते हैं। इसमें स्वर्ग पृथ्वी पर आ जाता है और चित्त स्वर्ग को चढ़ जाता है। अब धर्म का उद्भव होता है। जिसकी कला ने जिस सर्वव्यापी ईश्वर की आनन्दमयी छाया दिखलाई थी, उसीका और स्पष्ट भास होने लगता है। वह अनन्त अप्रमेय अप्राप्य ईश्वर संसार के ऊपर वर्तमान नजर आने लगता है, जिस संसार में बद्ध आत्मा पहुँचना चाहती है, पर बन्धन के कारण पूरा पहुँच नहीं

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

सकती। अभी परिच्छिन्न प्रमेय और अपरिच्छिन्न अप्रमेय, अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय का भेद बना रहता है, पर धर्म से बहुत सामीप्य ईश्वर और जीव को हो जाता है और शीघ्र ज्ञान का आविर्भाव होता है। जिसकी छायामात्र, कला और धर्म ने दिखलाई थी, वह साक्षात् ज्ञानावस्था में आ पहुंचता है, सब भेद नष्ट हो जाते हैं और जीव देवभाव को प्राप्त होता है। इस अवस्था में व्यक्ति, समाज, राज्य, साम्राज्य, सभी ज्ञानमय देख पड़ते हैं, सब भेद नष्ट हो जाते हैं और स्वनियत स्वप्रमितिक ज्ञान ही केवल सब रूप को धारण करता हुआ देख पड़ता है। पारतन्त्र्य, पारवश्य, सब निकल जाता है।

मूर्त द्रव्य को चित्तानुसारी बनानेवाली कला है। मूर्त द्रव्य छटपटाता है, रोकता है, तथापि चित्त अवश्य अपनी मोहर उसपर दे बैठता है। द्रव्य और चित्त के विरोध के कारण कला के अनेक भेद हैं।

सबसे मोटी गृहनिर्माण की कला है। जैसे सूर्य, चन्द्र आदि तारकमय लोक संसार में प्रथम उत्पन्न हुए हैं, वैसे ही कला में प्रथम मन्दिर, मस्जिद, गिर्जाघर आदि हैं। ये केवल चिह्न हैं। जिस अनन्त अप्रमेय को ये प्रकाश करना चाहते हैं, उनका पूर्ण प्रकाश नहीं कर सकते। ये मिट्टी, पत्थर आदि अत्यन्त मोटी चीजों के द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म परमेश्वर की महिमा को प्रकाश करना चाहते हैं। इसके बाद मूर्त्तियों का निर्माण होता है। मूर्त्तियों में भी पत्थर, पीतल आदि मोटी ही चीजों को उपयोग में लाते हैं, पर जिस वस्तु को मूर्त्ति से प्रकाश करना चाहते हैं, उसके प्रकाशन का मन्दिर आदि से मूर्त्तियों में अधिक सामर्थ्य है। चित्र की कला इसके बाद आती है। इसमें मूर्त द्रव्य का घनत्व निकालकर केवल समतल पर अक्षिगत ज्ञान का पूर्ण रूप दिखलाते हैं। तथापि, मूर्त द्रव्य से ही चित्र भी बनते हैं, इसलिए, अभी ज्ञान का स्वातन्त्र्य कला में प्रकाशित नहीं हुआ। गृह-निर्माण, मूर्त्ति और चित्र, ये सब बाह्य कलाएं हैं। अन्त में अचाक्षुष शब्दब्रह्म का नादविद्या में आविर्भाव होता है, जहां मूर्त द्रव्य से सम्बन्ध सर्वथा छूट जाता है। नादविद्या आध्यात्मिक कला है, जिससे सब आन्तर भावों का प्रकाश हो सकता है। अन्ततः मूर्त्त, अमूर्त्त, सब भेदों को मिटानेवाली रसमय कविता का आविर्भाव होता है, जिसमें मूर्त्त पदार्थ और शब्दब्रह्म का ऐक्य हो जाता है। यह कविता, कलाओं की कला और विद्याओं की विद्या है।

कविता वह कला है, जो वर्णन कर सकती है, सबकी नई सृष्टि कर सकती है, अर्थात् यह विश्वव्यापिनी विश्वरूपिणी विद्या है। वास्तुविद्या से ताराओं के ऊपर जो शासनकर्ता ईश्वर है, उसका सूचनमात्र होता है। मूर्तिरूप से वही ईश्वर पृथ्वी पर पहुँचाया जाता है। नादविद्या से ईश्वर-भाव में स्थिर होता है। कविता के द्वारा वही ईश्वर अनन्त, अप्रमेय, प्रकृति और इतिहास में निवेशित होता है। ईश्वर के तुल्य, कविता सर्वशक्तिमती और शाश्वत है।

वास्तुविद्या और नादविद्या ईश्वर को संसार से पृथक् एक स्थान में कहीं सूचित करती है, इसलिए भक्तिमार्ग की सहचारिणी हैं। मूर्तिविद्या, आलेख्यविद्या और कविता, ये सर्वव्यापी सर्वस्वरूप ज्ञानमय ईश्वर को बतलाती हैं और ज्ञानमार्ग की सहचारिणी हैं।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

इसलिए पूरब के ज्ञानियों में मूर्तिपूजा प्रचलित है। महाकवि लोग भी ज्ञानी हैं, किसी एक विशेष द्वैतवादी धर्म के अनुगामी नहीं हैं। कविता में जीव और ब्रह्म का वास्तव ऐक्य हो जाता है और धर्माधर्म का भेद मिट जाता है। कविता सर्वकला-स्वरूप सर्वकला-सारांश है। कविता में मन्दिरों की सृष्टि हो जाती है, मूर्तियाँ खड़ी हो जाती हैं, नक्शे खिच जाते हैं, चित्र निकल जाते हैं। जैसे नाइल नदी के किनारे बड़े-बड़े पिरेमिड खड़े हैं वैसे कविता-नदी के तीर पर ऐतिहासिक ग्रन्थ (रामायण, भारत आदि) खड़े हैं। भावगर्भ (मेघदूत आदि को) कविता नादविद्या ही है। जैसे बाह्य ऐतिहासिक चित्र (भारत आदि में) हैं, वैसे ही भावगर्भ काव्य मन के विकारों के उद्रेक हैं। ये दोनों अपूर्व एकांशपरक हैं। दोनों का मेल और पूर्णता नाटक में होती है। नाटकों में इतिहास और भाव दोनों ही मिलते हैं।

कला के इतिहास में तीन भाग हैं। पहले पूर्व के देशों में (भारत आदि में) कला का उद्भव हुआ। यहाँ आकार की पूर्णता पर कम ध्यान रहा। हास्यजनक अत्युक्तिमय अति विशाल मन्दिर, चित्र आदि यहाँ बने, जिनका अर्थ स्वयं स्पष्ट नहीं है, बड़े परिश्रम से समझ में आता है। यहाँ अप्रमेय अपरिच्छिन्न की ओर अधिक ध्यान रहा। मूर्त साकार सौन्दर्यमय कला का आविर्भाव ग्रीस देश में हुआ, जहाँ मूर्तियों का सौन्दर्य आजतक अतुलित है। अन्ततः, खीष्ट-मतानुगामियों में चित्रविद्या की पूर्णता की ओर अधिक ध्यान हुआ और इटली के चित्र जगद्विदित हैं।

इतना तो कला के विषय में हुआ। अब कला से धर्म का क्या सम्बन्ध है, सो देखना चाहिए। कलावान् यद्यपि कभी रसमग्न होकर, संसार को भूलकर ईश्वर से अभिन्न अपने को समझने लगता है, तथापि अपने खयालों को जब बाहर लाना चाहता है, तब अपनी अशक्ति स्वयं समझने लगता है और अशक्त होकर मूर्ति आदि में ईश्वर का विन्यास कर भक्तिमार्ग का अवलम्बन करता है। प्रतिमोपासन, कला और धर्म के मध्य की शृंखला है। यहीं से धर्म और भक्ति का आरम्भ होता है। कितने धर्म मूर्तिपूजा का खण्डन करते हैं। पर धर्म का तो सारांश ही साकारवाद है। मूर्तिपूजारहित धर्म भी ईश्वर को चित्त में समझने का उपदेश करते हैं। चित्त में ईश्वर को लाना उसे साकार बना देना है; क्योंकि निराकार का तो ध्यान भी नहीं हो सकता। इसलिए किसी धर्म में द्वैत नहीं जाता। जीव की शुद्धता और ईश्वर की महामहिमता पृथक् बनी रहती है।

पहले, पूरब के धर्मों में, सृष्टि-स्थिति-संहारकारी एक ईश्वर का ज्ञान हुआ। मनुष्य ईश्वर के सामने कुछ नहीं रहा। फिर, ग्रीस में, मनुष्य ही सब कुछ समझा जाता था, ईश्वर पीछे पड़ गया। इस अवस्था के बाद अवतारवाद आया, जिसमें प्रभावशाली मनुष्यों को लोग ईश्वर का अवतार समझने लगे, याने, ईश्वर और मनुष्य दोनों का ऐक्य हुआ। खीष्ट-धर्म इसी अवस्था में पड़ा हुआ है। खीष्ट को ईश्वर का अवतार समझते हैं। पर, इन अपूर्ण अवस्थाओं के बाद इनसे उत्तम ज्ञानावस्था है, जिसमें पहुंचने पर जीव स्वतन्त्र, चित्तस्वरूप, अद्वैत. आत्मज्ञानमय हो जाता है और सब भेद मिट जाते हैं।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

जैसे ज्ञान में पहले सत्, फिर, भाव आदि क्रम से, स्वतन्त्र आत्मज्ञान का आविर्भाव होता है, वैसे ही, दर्शन के इतिहास में भी देखने में आता है। पहले पार्मेनिडीज ने सत् का अवलम्बन किया, फिर हेरेक्लिटस का भाव आया। इसी क्रम से अन्ततः आज आत्मज्ञानं की स्वतन्त्र अवस्था आ पहुंची है।

वस्तुतः, दर्शन के इतिहास की समाप्ति हेगेल से है। ऐसा पूर्ण और स्वतन्त्र विचार का दार्शनिक न पहले हुआ न अब होगा। हेगेल के अनुगामी रोजेक्रेंज, फिश्कर, अर्डमान आदि जर्मनी में और ग्रीन, स्टर्लिंग, ब्रेडले, केअर्ड आदि इंगलैण्ड में और वीरा आदि देशान्तरों में हुए। हेगेल के बाद जर्मनी में या देशान्तरों में स्वतन्त्र दार्शनिक विचार बहुत कम हुए हैं, तथापि हेगेल को मरे आज पचहत्तर-छिहत्तर बरस हुए और इस बीच वैज्ञानिक विषयों के आविष्कार के साथ-ही-साथ कुछ तो नये दार्शनिक विषय भी सोपेनहावर, हर्बर्ट, कौम्ट मिलडार्विन, स्पेन्सर, लॉज आदि दार्शनिकों के विचार से निकले ही हैं, इसलिए हेगेल के उत्तरभावी दार्शनिकों का कुछ वृत्तान्त यहाँ दिया जाता है।

षष्ठ अध्याय

सोपेनहावर—आर्थर सोपेनहावर अपने को काण्ट और भारतीय दर्शन का अनुगामी समझता है। इसका जन्म जर्मनी के डैजिक नगर में हुआ। प्लेटो के अतिरिक्त दार्शनिकों में कदाचित् सोपेनहावर के बराबर लेखशैली की उत्तमता रखनेवाला और कोई नहीं है। इसका जीवन भी अपूर्व और स्वतन्त्र ही ढंग का था। इसने काण्ट, प्लेटो और बुद्ध के दर्शनों का विशेष श्रम से अभ्यास किया था। इसका मुख्य ग्रन्थ 'संसार इच्छा और संवित्स्वरूप' (Die Weltlas Wille and Vorstellung) है। हेगेल की इसने बड़ी निन्दा की है और काण्ट की प्रशंसा की है।

संसार पारमार्थिक रूप में स्वतन्त्र, हमारी इच्छा और ज्ञान के अपराधीन है। यदि हमारी इन्द्रियां दूसरी रचना की होतीं, तो संसार दूसरे ही प्रकार का मालूम होता। यह बात सत्य है, तथापि अनुभवरूप दृश्य संसार ही हमारे अधीन है। इस अनुभव का प्रयोजक पारमार्थिक वस्तु हमारे चित्त के अधीन नहीं है। काण्ट ने इस स्वतन्त्र पारमार्थिक वस्तु को माना है। पर इसे ज्ञान का अविषय तथा कार्य-कारण-भावादि सम्बन्ध से बाह्य काण्ट ने माना है, इसलिए उसका मानना न मानना एक ही है। जब इस वस्तु का ज्ञान भी नहीं हो सकता तो, काण्ट के मत से, प्रमाता के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, ऐसा ही कहना ठीक है। यहाँ का प्रयोजक बाह्य वस्तु है, इसमें किसी को सन्देह नहीं है; इसलिए बाह्य वस्तु का अभाव नहीं कहा जा सकता। कैसी वह बाह्य वस्तु है इतना ही मात्र नहीं कह सकते। पर यदि गम्भीर विचार किया जाय, तो सम्भव है कि हमारा अनुभव ग्राह्य वस्तु का प्रतिबिम्ब हो; क्योंकि प्रयोज्य और प्रयोजक सर्वथा विसदृश हों, यह सम्भव

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

नहीं है। यदि प्रमाता केवल प्रमाता ही होता तो उसे, प्रमेय-प्रयोजक पारमार्थिक सत्ता कैसी है, यह ज्ञान होना असम्भव होता। पर प्रमाता स्वयं प्रमेय भी है। जैसे अनुभव-प्रयोजक और वस्तु हैं, वैसे ही स्वयं प्रमाता भी एक उनमें से है। इसलिए, काण्ट के परीक्षावाद से जो प्रमाता और प्रमेय का सर्वथा भेद पड़ा था, वह निकल गया। फल यह हुआ कि जैसे मैं स्वयं अपने ज्ञान का प्रयोजक, अर्थात् एक प्रमेय हूँ, वैसे ही, मेरे सदृश प्रायः और भी प्रमेय होंगे।

इसलिए, प्रमाता का क्या पारमार्थिक स्वरूप है उसका वास्तव स्वभाव क्या है, यह यदि निश्चय हो जाय, तो केवल प्रमाता ही का नहीं, प्रमाता और प्रमेय दोनों ही का स्वभाव निश्चित हो सके। डेकार्ट, स्पाइनोजा, लीब्नीज, बर्कले, हेगेल आदि संविद्वादियों के अनुसार ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। इसलिए लीबनीज, हेगेल आदि ने सब वस्तुओं में ज्ञान माना है, पर यह अनुभव के विरुद्ध है। शरीर ही में कितने कार्य, रुधिरप्रचार आदि के होते रहते हैं, जिनका हमें कुछ भी ज्ञान नहीं है। जड-चेतन का भेद प्रसिद्ध है। जडों में ज्ञान का अभाव है। केवल इच्छा (Will) सब वस्तुओं में देखने में आती है। जडों में भी एक परमाणु की दूसरी परमाणु की ओर प्रवृत्ति है। यही जगत् की गति का कारण है। इसी इच्छा के कारण एक तत्त्व दूसरे तत्त्व से मिलता है। यह इच्छा कभी ज्ञानपूर्वक होती है, कभी ज्ञान से रहित होती है। अधिक प्रभा पड़ने पर आँख अनिच्छया भी मूँदी जाती है, कभी ज्ञानपूर्वक इच्छा से भी मूँदी जाती है। ज्ञानपूर्वक यदि इच्छा हो, तो इसका बल बड़ा भारी है। हबशी कितने समझ-बूझकर साँस अपने-आप ही रोककर आत्मघात कर लेते हैं। (प्राचीन समय में स्त्रियाँ पति के मरने पर इसी प्रकार आत्मघात कर लेती थीं)। इच्छा ज्ञानपूर्वक होने से स्वतन्त्र इच्छा कही जाती है। पर, यह इच्छा ज्ञानपूर्वक हो वा अज्ञानपूर्वक हो यह सभी रूपों में एक है। शरीर और बुद्धि थक जाते हैं, पर इच्छा निद्रावस्था में भी जागती रहती है। इसी इच्छा से स्वप्न होते हैं। यह अविश्रान्त और शाश्वत है। शरीर के भी पहले से यह इच्छा थी। शरीर तो इच्छा ही का फल है। जैसी आत्मा की इच्छा होती आई है, वैसे परिवर्त्तन शरीर में होते आये हैं। इच्छानुसार शरीर की सृष्टि है, यह बात भिन्न जन्तुओं की शरीर-रचना देखने ही से स्पष्ट हो जाती है। सींग होने के कारण बैल या बकरा ढब्बा मारता है, यह बात नहीं है। सींग होने के पहले ही से ये जन्तु सिर से ढब्बा मारते हैं, इसीलिए इनमें सींग निकले हैं। गर्भ में जिस अंश से देखने की इच्छा होती है, वही आँख रूप से परिणत हो जाता है, जिनसे श्वास लेने की इच्छा होती है, वे अंश फेफड़े हो जाते हैं। ऐसे ही और इन्द्रियाँ भी उत्पन्न होती हैं। जो पक्षी शिकार करते हैं, उन्हें बड़े चंगुल आदि होते हैं, जो सरीसृपों को खाते हैं, उन्हें लम्बे ठोर होते हैं, जो जन्तु भागते हैं, उनके पैर तेज और पतले होते हैं, जो छिपकर रहना चाहते हैं, उनके रंग वैसे ही होते हैं, जैसी जगहों में और जिन चीजों में वे छिपना चाहते हैं। इन सब उदाहरणों में होने की इच्छा (will to be) देखी जाती है। जहाँ किसी प्रकार कार्य नहीं चलता, वहाँ इच्छा, बुद्धि से अपनी रक्षा करती है। मनुष्यों में इच्छा का अस्त्र बुद्धि है। बुद्धि से यहाँतक होता है कि इच्छा का वास्तव रूप छिप जाता है और शत्रु को पता

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

नहीं लगता कि किस इच्छा से कौन व्यक्ति प्रवृत्त है। इसलिए इच्छा का ब्रह्मास्त्र बुद्धि है, इससे इसका बहुत कार्य सिद्ध होता है।

यह इच्छा प्राणियों में ही नहीं, जडों में भी देखी जाती है। बीज चाहे जिस प्रकार बोया जाय, चाहे उसकी जड़ नीचे रहे या मुँह या बगल, वृक्ष की जड़ तरावट चाहती है इसलिए सोर नीचे को जायेंगे और अग्रभाग रोशनी चाहते हैं, इसलिए ऊपर को जायेंगे। कितने पौधे पत्थर और ईंट फोड़कर प्रकाश में पहुंचते हैं, दूर से प्रतान फेंककर लता अपने आश्रय को खोज लेती है। बीच की सृष्टि में इच्छा नियत रूप से है। किस वृक्ष का, किस जन्तु का क्या स्वभाव है, यह स्पष्ट जाना जा सकता है। केवल खनिज में और मनुष्य में, अर्थात् अत्यन्त जड और अत्यन्त बुद्धिमान्, जो सृष्टि के दो अन्त हैं, इन्हीं की इच्छाशक्ति का नियत रूप नहीं है। व्याघ्र सर्वदा हिंस्र, मृग अहिंस्र शान्तिप्रिय होता है। कोई वृक्ष सूखी जगह, कोई ठण्डी जगह होते हैं। पर मनुष्य किस देश में हिंस्र, कहाँ अहिंस्र, किस देश को चाहनेवाला, किसको न चाहनेवाला होगा इत्यादि जानना वैसा ही असम्भव है, जैसा कि खनिज वस्तुओं की पूर्ण प्रवृत्ति जानना है। तथापि, चुम्बक लोहे की सूई सदा उत्तर की ओर बतलाती है। मूर्त पदार्थ पृथ्वी के केन्द्र की ओर गिरते हैं। कितने द्रव्य उष्ण से पसरते हैं, शीत से संकुचित होते हैं इत्यादि जड वस्तुओं की भी प्रवृत्ति अभ्यास करते-करते निश्चित हो गई है। वैसे ही, परीक्षा से, मनुष्यों के चित्त के भी प्रवृत्ति के नियम कितने निकले हैं, कितने और निकल सकते हैं।

इसलिए, इच्छा सर्वव्यापिनी है। सबकी स्थिति का मूल है। यह कोई पुरुष या व्यक्ति नहीं है, यह एक अचेतन शक्ति है, जिससे देशकालगत सब चीजें बनी हैं। स्वयं यह न दिक् से, न काल से परिच्छिन्न या सम्बद्ध है। यह प्रमेय भी नहीं है। जड पदार्थों से लेकर मनुष्य तक एक-से-एक उत्तम वस्तु है। इनके रूप से प्रत्ययों के अनुसार इच्छा अपने को प्रकट करती है। ये सामान्य प्रत्यय (अर्थात्, जाति) शाश्वत दिक्कालानवच्छिन्न हैं, जैसा प्लेटो ने दिखलाया है। इनमें क्रम है। एक प्रत्यय या खयाल से दूसरा उत्तम है, उससे और तीसरा इत्यादि। छोटे खयाल ऊँचे खयाल को रोकना चाहते हैं। पर जहाँतक नीचे खयाल को ऊँचा खयाल रोक सके, उतनी ही उसकी पूर्णता और उसका सौन्दर्य अधिक समझना चाहिए।

यही इच्छा संसार का मूल है (अर्थात्, रजोगुण है)। जबतक इच्छा (या काम) रहेगी, तबतक संसार है। जैसे ज्ञान (अर्थात्, सत्ता) शाश्वत है जिसके अनुसार संसार की सृष्टि है, वैसे ही सृष्टिशक्ति, अर्थात् काम (या रजोगुण) भी शाश्वत है। व्यक्तियों का परिवर्त्तन होता है। पर इन सामान्य गुणों का नहीं। कितने लोग आत्मघात कर लेते हैं और समझते हैं कि मरने से संसार से छुटकारा हो जायगा; पर यह भ्रम है; क्योंकि काम जबतक है, तबतक संसार से छुटकारा कहाँ। यह कष्टमय संसार इसी काम या रज का कार्य है। यहाँ बली जन्तु, निर्बल को सर्वदा पीडा देने में तत्पर है। इतिहासों में लूट-मार, असत्य, छल भरा हुआ है। श्रम, नियम, प्रेम, मितव्यय आदि, जो मनुष्य के धर्म कहे जाते हैं,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

वे केवल अहंकारमूलक हैं। करुणा या वात्सल्य (अर्थात्, अहिंसा) बौद्धों का धर्म है। इसी को वास्तव धर्म कह सकते हैं। और सब धर्म जीवनसुख के वास्ते हैं और स्वार्थमूलक हैं। इस महाजाल महाप्रपंच का फल केवल दुःखमय जीवन है। जितनी ही उन्नति जीव की होती है, उतना ही दुःख बढ़ता है। पशुओं को न बहुत सुख, न बहुत दुःख है। हँसी और आँसू, ये विशेष धर्म हैं, मनुष्य के, जो सुख के क्षणों में हँसता है और महादुःखों से प्रायः रोता रहता है, सुख इस संसार में शशशृंग और खपुष्प-तुल्य है। केवल दुःख का, जब कुछ अल्पत्व होता है, तो उसे मनुष्य सुख समझता है।

यह दुःख सर्वथा नष्ट हो, इसका उपाय खोजना चाहिए। सुख अधिक हो, यह खयाल नहीं रखना चाहिए। ज्ञान के द्वारा जब जीवन और जीवन-सुख तुच्छ विदित होने लगता है और इच्छा स्वयं अपने ही प्रतिकूल चलती हुई अपने को नष्ट करने लगती है और जीवनसुख और भोग से संन्यास लेती है, तब जीव की पवित्रता, उद्धार और अन्ततः निर्वाण होता है।

सोपेनहावर के मत से, बुद्ध और ईसू मनुष्य के आदर्श थे, जिन्होंने गार्हस्थ्य का परिहार किया और अहिंसा-व्रत को धारण कर जीवनेच्छा को छोड़ शरीरत्याग किया।

सोपेनहावर के कुछ पहले ही हर्बर्ट नामक मनोविज्ञानवेत्ता का जन्म हुआ, जिसका मत अब यहाँ संक्षेप रूप से दिया जाता है।

हर्बर्ट—हर्बर्ट का जन्म ओल्डेनबर्ग नाम नगर में हुआ। विद्याभ्यास में इसने जन्म बिताया। मानसविज्ञान (Psychology) इसका मुख्य विषय था।

हर्बर्ट के मत से, बाह्य वस्तु का अनुभव ज्ञान का मूल है। अनुभव का अन्वेषण पूर्ण रीति से दार्शनिक को करना चाहिए। जब इन्द्रियों में किसी प्रकार का संवेदन होता है, तो स्वतन्त्र सत् कुछ है, यह अवश्य ज्ञान होता है। यह सत् क्या है, यह ज्ञान कभी नहीं हो सकता। पर उसकी सत्ता का ज्ञान अवश्य होता है। इसलिए, जितने दृश्य (Appearance) हैं, उनसे वास्तव सत्ता की स्थिति सूचित होती है, इसमें सन्देह नहीं है। यह वास्तव सत्ता क्या है। इस प्रश्न का उत्तर फिक्ट ने आधुनिक समयों में दिया है कि यह आत्मा है, आत्मा अपनी सत्ता आप ही बतलाती है। फिक्ट ने आन्तर ज्ञान से यह उत्तर दिया। बाह्य अनुभव से प्राचीन समय में हेरेक्लिटस ने इसी प्रकार उत्तर दिया था कि प्रतिक्षण परिणाम वास्तव हैं, और कुछ पारमार्थिक नहीं है। वस्तुतः, सत् पदार्थ अनेक हैं। इनका परिवर्त्तन नहीं होता। एक वस्तु का दूसरी वस्तु से सम्बन्ध होने ही से परिवर्त्तन होता हुआ जान पड़ता है। प्रमाता दो वस्तुओं का सम्बन्ध देखता है। फिर, उनमें एक का तीसरी वस्तु से, फिर चौथी वस्तु से, सम्बन्ध देखता है। इन्हीं सम्बन्धों का परिवर्त्तन होता है। ये ही सम्बन्ध अनुभव के मूल हैं। सम्बन्ध-भेद ही के कारण एक वस्तु के अनेक गुण, देख पड़ते हैं। कूटस्थता, अपरिणामिता पारमार्थिक सत्ता का धर्म है।

आत्मा पारमार्थिक सत्ताओं में से एक है। एक आत्मा है। यदि मानस कार्यों का मूल एक आत्मा न होती, सब मानस वस्तुएँ पृथक्-पृथक् होतीं, तो उनमें परस्पर सम्बन्ध

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

न होता। रूप, रस आदि का कहीं सादृश्य, कहीं संयोग, कहीं विरोध आदि अनेक प्रकार के सम्बन्ध देख पड़ते हैं। इसलिए, इनका मूल एक आत्मा मानना आवश्यक है। इन सब मानस शक्तियों का मूल परमात्मा है। और, इन शक्तियों के कार्यों का मूल समूह, जिसे साधारण लोग आत्मा समझते हैं, वह जीवात्मा है।

कितने दार्शनिक संशयवादी हैं। पर, कितना ही संशय सब विषयों में क्यों न हो, कम-से-कम इतना तो अवश्य निश्चय है कि प्रत्यक्ष का विषय कुछ है। पर ये विषय, जैसा हमलोग देखते हैं, वैसे हैं नही। एनेसिडिमस आदि ने कहा है कि ज्ञान के विषय जैसी वस्तुएँ होती हैं, वैसी वे हैं, इसमें प्रमाण नहीं है। ह्यूम और काण्ट ने कहा है कि वस्तु परमार्थतः देशकालावच्छिन्न और कार्य-कारण-भाव से व्याप्त नहीं है। देशकाल, कार्य-कारण-भाव आदि मनुष्यबुद्धि की सृष्टि है।

पर संशयवाद का मुख्य मूल एक वस्तु में विरोधी अनेक गुणों का असम्भव है। भाव परिणामी विकारशील हैं। परन्तु परिणाम, विकार या गति से सब होना और न होना दोनों के मिलने के अधीन है। एक ही वस्तु पहले भींगी रहती है, फिर मनुष्य कहते हैं, वह सूख गई। न भींगा सूखा हो सकता है, न सूखा भींगा; फिर भींगे से सूखा हुआ, तो कैसे हुआ। इसी प्रकार कार्य-कारण-भाव में बड़ा विरोध है। मिट्टी का घड़ा बन गया, ऐसा लोग कहते हैं। भला मिट्टी ही अभी है, तो घड़ा कहाँ से हुआ। यदि घड़ा बन गया, तो मिट्टी उसमें कहाँ रह गई। लोग समझते हैं, मिट्टी स्वरूप से भी रह गई और उसका घड़ा भी बन गया और कारण स्वरूप से है भी, नहीं भी है। एक वस्तु रहे भी, न भी रहे, यह कब सम्भव है। ऐसे लोग आत्मा को स्वप्रमितिक स्वग्राह्य कहते हैं। जो किसी क्रिया का कर्त्ता है, वह उसी समय उसी क्रिया का कर्म कैसे हो सकता है। आत्मा अपना ही ज्ञान करती है, अर्थात्, यही ज्ञान का कर्त्ता भी है और कर्म भी है, अर्थात् एक आत्मा दो हो गई, कर्त्ता भी कर्म भी, जो कि सर्वथा असम्भव जान पड़ता है। वैसे ही आत्मा को क्षणिक अनेक ज्ञान में समवेत लोग समझते हैं। इन सब विषयों में सत्ता और अभाव, एकत्व और बहुत्व आदि परस्पर-विरुद्ध धर्मों को लोग एक करने का प्रयत्न करते हैं। इस विरोध के परिहार के लिए हेगेल ने कहा कि विरोध तो वस्तु का स्वभाव ही है, उससे हटने का प्रयत्न ही क्यों करना।

पर हेगेल का मत ठीक नहीं है। सत् तो स्वतन्त्र, अन्यसम्बन्धनिरपेक्ष, अभाव और परिच्छेद का सर्वथा विरोधी है। सत् तो परिमाण, आयाम आदि से हीन, देश और काल से असम्बद्ध है। केवल पार्मेनिडीज आदि से इतना ही भेद हर्बर्ट का है कि सत् एक नहीं है, अनेक है और मनुष्य-बुद्धि से पर है। अपरिणामिता सत् का स्वभाव है, और कोई गुण या उपाधि सत् में नहीं है। इसलिए, यदि सत् एक होता, तो संसार जैसा अनुभवगोचर है, वैसा नहीं मालूम पड़ता। पर सत् अनेक होने के कारण और अनुभव में सर्वदा अनेक सत् आने के कारण सब भेद दृश्य होते हैं। कार्य-कारण-भाव और समवाय किसी दो वस्तु के सम्बन्ध का नाम नहीं है। ये आत्मरक्षा, अर्थात् अभेद के स्वरूप हैं। वस्तु परमार्थतः एक ही है,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

केवल सम्बन्ध-भेद से भिन्न देख पड़ती है। एक ही वस्तु किसी के लिए औषध और किसी के लिए विष होती है। अनेक सत् परस्पर सम्बद्ध हैं। ये सम्बन्ध बदलते रहते हैं, जिसके कारण वस्तुभेद देख पड़ता है।

सत् देशकालातीत है, इसलिए यह सम्बन्ध अनेक सत् में कहाँ होता है, क्या इसका अधिकरण है, यह यदि पूछा जाय, तो केवल यही उत्तर हो सकता है कि बाह्य देश से अतिरिक्त कोई बौद्ध प्रदेश है, जहाँ एक सत् को दूसरे सत् से सम्बन्ध होता है। बाह्य प्रदेश में दो परमाणु कभी एक बिन्दु पर नहीं रह सकते। पर, इस बौद्ध प्रदेश में एक शक्तिकेन्द्र, अर्थात् एक सत्, दूसरे सत् के साथ ही, एक ही बिन्दु पर, रह सकता है। इस बौद्ध प्रदेश के नियम सामान्य प्रचलित रेखागणित से नहीं निकल सकते। अनेक सत् जब अनेक बिन्दु पर रहते हैं, तो असम्बद्ध कहे जाते हैं। जब एक बिन्दु पर आते हैं, तो परस्पर सम्बद्ध होते हैं। अनेक सत् एक बिन्दु पर आते हैं, तो एक दूसरे में प्रविष्ट हो जाते हैं। आत्मा एक सत् है; यह जब अन्य सत् पदार्थों से सम्बद्ध होता है, तब अनुभव होता है। मनोविज्ञान में यदि अभ्यास किया जाय, तो गणित-सदृश ठीक-ठीक नियम निकल सकते हैं।

हर्बर्ट ने गणित की रीति दर्शन में लगाई। इसलिए, इस नई रीति के कारण इसके बहुत-से अनुगामी हुए। इनमें से मुख्य फ्रेड्रिक एडवर्ड बेनेक था। हर्बर्ट के मत से, मनुष्य-बुद्धि के बाह्य भी कितने पदार्थ हैं, इसलिए केवल मनोविज्ञान पर सब दर्शन यह नहीं निर्भर समझता था। मनोविज्ञान और सत्ताशास्त्र, दोनों मिलाकर दर्शन के तत्त्वों का निश्चय करना हर्बर्ट का उद्देश्य था। बेनेक ने मनोविज्ञान ही मुख्य समझा। मनोमूलक सभी दर्शन हैं। मन से बढ़कर क्या, मन के अतिरिक्त वस्तुतः कोई प्रमाण है ही नहीं। इसलिए मनोविज्ञान (Psychology) के तत्त्वों का अन्वेषण करना ही दार्शनिक का एकमात्र कार्य बेनेक के अनुसार है। बेकेन, लॉक, ह्यूम आदि आंग्ल दार्शनिकों का अनुसरण करता हुआ बेनेक मानता था कि अनुभव के अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं है।

हर्बर्ट के मत से, आत्मा सत्स्वरूप, निर्विकार, अपरिणामी, निर्गुण है। यह शून्यात्मवाद बेनेक को अच्छा नहीं लगा। बेनेक के मत से, संवित् और गति आत्मा के प्रथम गुण हैं। इसलिए, इच्छा और कृति भी आत्मा के गुण हैं। इसी इच्छा के कारण चेतनाशक्ति बाह्य वस्तुओं के अन्वेषण में रहती है; क्योंकि इन वस्तुओं के सम्बन्ध से आत्मा के गुणों का विकास और उपचय होता है। इन बातों से कुछ विकासवाद का भास बेनेक को पहले ही से चित्त में उठा था, ऐसा मालूम होता है। इस समय जर्मनी में मनोविज्ञान का वैज्ञानिक रीति से अभ्यास प्रचलित नहीं था, इसलिए कितने दिनों तक बेनेक अप्रसिद्ध दार्शनिक था। पर हाल के समय में, कल्पना के स्वप्न से उठकर, जर्मनी, देशान्तरों के सदृश, विज्ञान की आवश्यकता को समझने लगी है और वुण्ड्ट (Wundt) आदि बड़े-बड़े मनोविज्ञानवादी यहाँ हुए हैं और अब बेनेक का परिचय धीरे-धीरे लोगों को हुआ है।

अब यहाँ थोड़े समय के लिए जर्मनी को छोड़कर फ्रान्स और इंगलैण्ड के दर्शन का वृत्तान्त दिया जाता है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

सप्तम अध्याय

काण्ट के समय के कुछ पहले ही से दो प्रकार के विचार दर्शन में चले आते थे। जर्मनी में कल्पना-दार्शनिक (Romantic Philosophers) थे। इंगलैण्ड और फ्रान्स में प्राकृतिक दर्शन (Positive Philosophy) का प्रचार था। इन दोनों शाखाओं की समाप्ति एक बार हो चुकी थी। कौण्डियेक और ह्यूम ने प्राकृतिक दर्शन की समाप्ति कर ली थी और हेगेल ने काल्पनिक दर्शन का अन्त किया। काल्पनिक दर्शन का उद्देश्य था कि अन्तःकरण के धर्मों का अन्वेषण करके क्रम से हमलोग वाह्य तत्त्वों का स्वभाव जान सकें। इन लोगों ने ज्ञाता की एकता पर अधिक ध्यान दिया और ज्ञेय में जो वास्तव अनन्त भेद हैं, उनकी उपेक्षा की। प्राकृतिक दार्शनिकों ने वाह्य वस्तुओं के अनुभव पर अधिक ध्यान दिया और समझते थे कि ज्ञेय तत्त्वों का निश्चय कर पश्चात् तदनुसार ज्ञाता का निश्चय हो सकेगा। प्रायः सौ वर्ष हुए कि इंगलैण्ड और फ्रान्स में पुनः कौण्डियेक और ह्यूम के दर्शन का उज्जीवन हुआ। यह प्राकृतिक प्रवृत्ति फ्रान्स में पुनः कौम्ट से और इंगलैण्ड में मिल से आरम्भ हुई।

कौम्ट—ऑगस्ट कौम्ट का जन्म मोम्पेलियर नामक नगर में हुआ। यह लड़कपन ही से बड़ा बुद्धिमान् था। इसकी शिक्षा एक विज्ञानशाला में हुई। सेण्ट, साइमन आदि विद्वानों के साथ से इसे बहुत लाभ हुआ। 'प्राकृतिक दर्शन की प्रथा' (Cours de Philosophic Positive) इसके मुख्य ग्रन्थ का नाम है। अठारहवीं शताब्दी में जो केप्लर, न्यूटन आदि वैज्ञानिकों के परिश्रम से विज्ञान के नये विषयों का आविर्भाव हुआ था, उन वैज्ञानिक तत्त्वों को परस्पर मिलाकर दार्शनिक विषयों को तदनुसार ठीक करना इस दार्शनिक का उद्देश्य था। जीवन की अन्तिम अवस्था में इसने एक निरीश्वर धर्म का भी प्रचार किया, जिसके कुछ अनुगामी बहुत-से देशों में हुए। परस्पर प्रेम से नियमपूर्वक उन्नति करना ही इस धर्म का उपदेश था।

जैसे काण्ट ने समस्त मानव-इतिहास को तीन समयों में बाँटा था, वैसे ही कौम्ट ने भी किया। इसका कथन था कि पहले मनुष्य पौराणिक बुद्धि के थे और देवता, भूत-प्रेत आदि कल्पनाओं से संसार को समझने का प्रयत्न करते थे। उसके बाद दार्शनिक समय आया, जिसमें एक ज्ञान के अधीन समस्त ज्ञेय है, यह साधन करने की चेष्टा हुई। अन्त में, अब वैज्ञानिक समय आया है, जब कि सब लोग अनुभव और परीक्षा के द्वारा, न कि सूखी कल्पना या कुतर्कों से, वस्तु के निश्चय में प्रवृत्त हैं। इन तीनों अवस्थाओं में बहुत-सी अवान्तर दशाएँ हैं। पौराणिक अवस्था में पहले सबसे नीच दशा यह है जब कि काठ, पत्थर, टोटका-टोटरम, सबमें लोग मनुष्य की-सी बुद्धि और शक्ति समझते हैं और अपनी सहायता के लिए उन्हें पूजते हैं। इसके बाद आकाश में बड़े प्रचण्ड दिव्य देवता हैं, वे सभी सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हैं, उनकी पूजा सबको करनी चाहिए, ऐसा बहुदेववाद चलता है। फिर, सबसे उत्तम एक देव सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् है, ऐसा एकेश्वरवाद चलता है। यही

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

एकेश्वरवाद की दशा पौराणिक अवस्था की उत्तम दशा है। ऐसे ही, दार्शनिक अवस्था में भी, पहले अनेक शक्ति मानते हैं। फिर, सब शक्तियों को एक ज्ञानशक्तिस्वरूप मानने का प्रयत्न होता है, तब अन्त में वैज्ञानिक अवस्था आती है, जिसमें स्वतन्त्र कारणों का अन्वेषण छोड़कर, देवताओं ने संसार बनाया या ज्ञानशक्ति के अधीन संसार है, इन बातों का उत्तर असम्भाव्य समझकर यह अन्वेषण किया जाता है कि चाहे जैसे संसार हुआ हो, पर यह किन नियमों के अनुसार चलता है; क्योंकि किसने संसार या संसार के नियमों को बनाया, यह मनुष्य कभी नहीं जान सकता। पुराण और तर्क, दोनों इन विषयों में व्यर्थ भूले हैं। किन नियमों के अनुसार संसार चल रहा है, इसी का अन्वेषण सम्भव है और यही अन्वेषण मनुष्य की बुद्धि का कर्त्तव्य है। क्यों पृथ्वी सूर्य के चारों ओर चलती है, क्यों सूर्य से प्रकाश होता है, अन्धकार क्यों नहीं हो जाता, इन प्रश्नों का यथार्थ उत्तर कभी नहीं दिया जा सकता। पर कितनी देर में सूर्य की प्रभा पृथ्वी पर आ सकती है, पृथ्वी की गति किस दिशा में घण्टे में कितने कोस होती है, इन बातों की परीक्षा मनुष्य भले ही कर सकता है और थोड़े श्रम से इन प्रश्नों का उत्तर भी निकाल सकता है।

सभी विज्ञान पूर्वोक्त तीनों अवस्थाओं में कभी-न-कभी पड़ते हैं। पहले गणित पुराण से स्वतन्त्र हुआ, फिर, क्रम से, ज्योतिष, पदार्थ-विज्ञान, रसशास्त्र, जीवशास्त्र और सामाजिकशास्त्र (Astronomy, Physics, Chemistry, Biclogy and Sociology) ये सब शास्त्र, पुराण और दर्शन के सम्बन्ध से स्वतन्त्र हुए। मनोविज्ञान (Psychology), कौम्ट के अनुसार, स्वतन्त्र शास्त्र नहीं है; क्योंकि, उसके मत से, मन की परीक्षा मन ही से नहीं हो सकती। सबसे मुख्य सामाजिकशास्त्र है, जिसमें समाज के आचार-व्यवहार की परीक्षा की जाती है। सभी विज्ञानों में दो अंश हैं—स्थिति के नियम और गति के नियम (Statics and Dynamics); जिस प्रकार सम्प्रति समाज की स्थिति है, उसका वृत्तान्त स्थिति-भाग में दिखाया जायगा और जिस प्रकार साम्प्रतिक अवस्था से समाज उन्नत अवस्था को पहुंचाया जा सकता है, उसका विवरण गति-भाग में होगा।

सामाजिक स्थिति—सामाजिक किसी दशा को एकाएक कोई बदल देना चाहे, तो नहीं हो सकता। किस प्रकार एक दूसरे के साथ बरताव करने से क्या लाभ होगा, इस विचार से मनुष्यों ने सामाजिक स्थिति स्वीकार की, ऐसा कहना असम्भव है; क्योंकि जब-तक कुछ भी सामाजिक व्यवहार न होने लगेगा, तबतक कैसे लाभ या हानि विदित हो सकती है। इसलिए मनुष्यों में एक स्वाभाविक प्रवृत्ति माननी चाहिए, जिसके कारण सामाजिक व्यवहार में प्रवृत्ति होकर मनुष्य उसकी हानि और लाभ समझ सकता है। जैसे और विषयों में नियम है कि पहले प्रवृत्ति तब ज्ञान, वैसे यहाँ भी समझना चाहिए।

जबसे जन्तुओं में स्त्री-पुरुष का विभाग हुआ और बच्चों के पालन की चिन्ता हुई, तभी से संसार में सामाजिक प्रवृत्तियाँ होने लगीं। तथापि, आज भी, मनुष्यों में स्वार्थ सर्वथा हटा नहीं है और न इसके हटाने की आवश्यकता है। केवल वात्सल्य और सहानुभूति

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

भूति बढ़ने ही से समाज का पूर्ण उपकार हो सकता है। गार्हस्थ्य, सामाजिक जीवन का मूल है। यहीं से वात्सल्य और सहानुभूति का आरम्भ होता है।

सामाजिक उन्नति—जैसे मनुष्य के विचारों में तीन अवस्थाएँ कही गई हैं—पौराणिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक, वैसे ही समाज में तीन अवस्थाएँ आती हैं—युद्धावस्था, विवादावस्था और उद्योगावस्था (कलि, द्वापर और कृतयुग)। सबसे नीच युद्धावस्था है, जिसमें बली निर्बलों को गुलाम बनाकर उनसे गृहकार्य चलाते हुए स्वयं एक दूसरी जाति से युद्ध कर अपनी उन्नति करना चाहते हैं। दूसरी अवस्था विवाद की है, जब युद्ध कम होने लगता है और कचहरी के झगड़े अधिक बढ़ते हैं। तोपों के बदले बारिस्टरों की बहस और शस्त्रास्त्र के बदले द्रव्य और झूठे इजहार का उपयोग इस अवस्था में खूब होता है। इसी अवस्था में आजकल बहुतेरी जातियाँ और बहुतेरे देश हैं। तृतीय अवस्था (जो सर्वोत्तम है) उद्योगावस्था है। इस अवस्था में न तो मारकाट की ओर प्रवृत्ति होती है, न हक के झगड़े में लोग परेशान रहते हैं; किन्तु सभी अपने कर्त्तव्यों में तत्पर रहकर अपनी और अपने साथियों की उन्नति में लगते हैं।

गाल ने अपने मस्तिष्कशास्त्र (Phrenolcgy) में लिखा है कि मस्तिष्क के आगे के हिस्से में वात्सल्य और सहानुभूति रहती है और मेरुदण्ड के समीप पीछे के हिस्से में जबरदस्ती और झगड़े का समावेश है। इस वैज्ञानिक की रीति से देखा जाय, तो भी यही मालूम होता है कि मनुष्यों में मस्तिष्क के आगे का हिस्सा अधिक उचित है, इसलिए मनुष्य को वात्सल्य और सहानुभूति और सामाजिक जीवन की ओर अधिक प्रवृत्ति होनी चाहिए। यद्यपि लामार्क के विकासवाद से कौम्ट को विरोध था, तथापि इस विषय में उससे ऐक्य था कि अभ्यास के द्वारा मनुष्य की वात्सल्य आदि उत्तम प्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं और अनभ्यास और अनुपयोग से नीच प्रवृत्तियाँ घटती हैं।

कौम्ट के मत से, ज्ञान का मुख्य स्वरूप सम्बन्ध-ग्रहण है। किसी एक असम्बद्ध विशेष वस्तु के अनुभव को ज्ञान नहीं कह सकते और न नये के अनुभव से किसी बात का निश्चय ही हो सकता है। प्रमेय विषयों के परस्पर सम्बन्ध का नियम खोजना ज्ञान का मुख्य उद्देश्य है। यह उद्देश्य पौराणिक और दार्शनिक अवस्थाओं में लोग ठीक समझ नहीं सकते थे। अब वैज्ञानिक अवस्था में इनका अन्वेषण हो सकता है।

प्रमेयों का सम्बन्ध दो प्रकार का है—एककालिक या क्रमिक। एककालिक सम्बन्ध स्थिति के नियमों के अनुसार होता है और क्रमिक सम्बन्ध गति के नियमों के अनुसार। परीक्षा और अनुभव से सम्बन्ध के नियमों का अन्वेषण सम्भव है, केवल ध्यान से नहीं, जैसा कि दार्शनिक लोग समझते हैं। दार्शनिकों ने स्वतन्त्र सम्बन्धातीत सत्ता पर विचार करना अपना मुख्य उद्देश्य समझा था, वैज्ञानिक लोग सब ज्ञान को सम्बन्धाधीन (Relative), अर्थात् सम्बन्ध-ज्ञान कहते हैं। स्वतन्त्र सत्ता को ये लोग निष्प्रमाण समझते हैं। विज्ञान से यह प्रमाणित हुआ है कि समानकालीनता और क्रमिकता-रूप प्रमेयों के जो सम्बन्ध हैं, उन्हींका ग्रहण मनुष्य को हो सकता है। स्वतन्त्र सब प्रमेय का आदि-

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

कारण क्या है, इसका ज्ञान असम्भव है। दूसरी बात यह है कि हमारे शरीर और उसकी वर्त्तमान दशा के अधीन समस्त ज्ञान है। इसलिए, प्रमेयों के परस्पर सम्बन्ध और उनका इन्द्रियों से सम्बन्ध, ये दोनों सम्बन्धज्ञान के लिए आवश्यक है और स्वतन्त्र सम्बन्धातीत सत्ता, जो न किसी प्रमेय से, न प्रमाता की इन्द्रियों से सम्बद्ध है, सो सर्वथा अग्राह्य है और, उसके अन्वेषण या ज्ञान की तृष्णा मरुमरीचिका में प्यास बुझाने की आशा के तुल्य है।

समाजशास्त्र, जीवशास्त्र, सभी वैज्ञानिक शास्त्रों से यही सूचित होता है कि ज्ञान सम्बन्धाधीन है। सम्बन्धज्ञान ऐतिहासिक है। मनुष्यों की किस क्रम से उन्नति हुई है, सम्पूर्ण संसार ही किस प्रकार वर्त्तमान दशा में पहुंचा है, यह इतिहास-ज्ञान ही से जाना जा सकता है।

धीरे-धीरे कौम्ट कुछ विक्षिप्त हो गया था। प्रायः अन्त की अवस्था में इसका चित्त ठिकाने नहीं था। उस समय इसने एक अपना नया सम्प्रदाय ही निकालने का प्रयत्न किया। यह निरीश्वरधर्म था, जिसके—प्रेम, नियम और उन्नति—तीन रहस्य थे। इस विषय को पहले भी सूचित कर चुके हैं और दर्शन के इतिहास में ऐसे रहस्यवाद अनावश्यक हैं, इसलिए इसका विशेष विवरण यहाँ नहीं दिया जाता।

मिल—कौम्ट के अनुसारियों में प्रधान, मिल नामक इंगलैण्ड का दार्शनिक था। इसका पूरा नाम जॉन स्टुअर्ट मिल था। लण्डन नगर में इसका जन्म हुआ। इसका पिता जेम्स मिल मनोविज्ञान (Psychology) में नियुक्त था। स्टुअर्ट मिल की शिक्षा प्रायः सम्पूर्ण उसके पिता के हाथ में हुई। बचपन में इसने कई भाषाओं का और कई शास्त्रों का अध्ययन किया। दर्शन में यह ह्यूम, कौम्ट और अपने पिता का अनुगामी हुआ। धर्म में यह बेण्टहम के उपयोगवाद (Utilitarianism) का अनुगामी था।

तर्कशास्त्र (System of Logic) और हेमिल्टन की परीक्षा (Examination of Hamilton's Philosophy) ये दो ग्रन्थ उसके मुख्य हैं। उपयोगवाद, अर्थशास्त्र आदि पर और भी इसने ग्रन्थ लिखे हैं।

ह्यूम के प्रमेयवाद (Phenomenalism) और अपने पिता के सहचारप्रधान मनोविज्ञान को मूल मानकर स्टुअर्ट मिल ने अनुभव को एकमात्र ज्ञान का मूल माना है। इसके मत से, सहज ज्ञान की कोई वस्तु नहीं है। मूर्तद्रव्य केवल ऐन्द्रिक संवेदन का सार्वकालिक सम्भव मात्र (Permanent Possibility of Sensation) है। मूर्त पदार्थ की बाह्य सत्ता का उपपादन सर्वथा असम्भव है। चित भी क्षणिक अनेक विज्ञान-परम्परा का समूहमात्र है। केवल इन अनुभवों के सम्भव के लिए इनका एक अनिर्वचनीय मूल कुछ मानना चाहिए। काण्ट ने जो गति-तत्त्वों में अपूर्व निश्चय सिद्ध किया है, सो सर्वथा असंगत है; क्योंकि इन तत्त्वों का भी ज्ञान अनुभवाधीन है। एक और दो मिलकर तीन होता है, यह वैसा ही ज्ञान है, जैसा कि आग में हाथ डालने से जलने का ज्ञान। इसलिए, जितना निश्चय सब ज्ञानों में है, उससे अधिक गणित के तत्त्वों में विश्वास करना उचित नहीं है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

वैज्ञानिक परीक्षा का मुख्य उपाय व्याप्तिग्रह है। अनुमान में भी मुख्य व्याप्तिग्रह ही है। जहाँ धुआँ, वहाँ आग अवश्य है, इतना कह देने ही से इस सामान्य व्याप्तिग्रह के जितने विशेष उदाहरण है, सब वस्तुतः अन्तर्गत हो गये, केवल स्पष्ट रूप से इसके उदाहरणों को दिखाना ही अनुमान है। एक विशेष ज्ञान से दूसरे विशेष ज्ञान का होना ही व्याप्ति का स्वरूप है। जब लड़का एक बार आग से हाथ जला लेता है, तब फिर आग से उसे जलने का स्मरण होता है और समझता है कि जब-जब आग का स्पर्श होगा, तब-तब हाथ जलेगा। विशेष व्याप्तिग्रहों का मूल प्रकृति की एकरूपता में, अर्थात्, कार्य-कारण-भाव की सर्वव्यापिता में विश्वास है। यह विश्वास भी अनुभवमूलक ही है। मनुष्य देखता है कि बिना कारण कोई कार्य नहीं होता और यह भी अनुभव से मालूम होता है कि प्रतिबन्धक न हो, तो कारण से कार्य अवश्य होगा। इसी कारण, एक बार आग से जलने पर फिर भी जलने का भय अवश्य होता है। यही प्रकृति के ऐकरूप्य में विश्वास सबसे बड़ा व्याप्तिग्रह है, जिसका बाधक अभी तक किसी को नहीं मिला है।

मिल ने कार्य-कारण-भाव की परीक्षा के लिए चार प्रकार निकाले हैं—(१) अन्वय, (२) व्यतिरेक, (३) सहभावी परिवर्त्तन और (४) पारिशेष्य। जिस दृश्य का अन्वेषण किया जा रहा है, उसके अनेक उदाहरणों में यदि कोई एक ही विषय सामान्य हो और सब विषयों में इन उदाहरणों में परस्पर भेद हो, तो जिस विषय में सबका ऐक्य है, वही उस दृश्य का कारण या कार्य हो, ऐसा बहुत सम्भव है। यदि दो उदाहरण हों, जिनमें एक में अन्वेष्टव्य दृश्य वर्त्तमान हो और दूसरे में नहीं और इन दोनों में एक ही किसी विषय का भेद हो और सब विषयों में साम्य हो, तो जिस विषय में भेद है, वही अन्वेष्टव्य दृश्य का कारण या कार्य हो, ऐसा सम्भव है। ये दोनों नियम एक साथ मिला भी दिये जा सकते हैं। इनको मिलाकर एक तीसरा नियम इस प्रकार का होता है। यदि अनेक उदाहरणों में, जिनमें अन्वेष्टव्य दृश्य वर्त्तमान हो, कोई एक ही विषय वर्त्तमान हो और दूसरे उदाहरणों में जिनमें कि अन्वेष्टव्य दृश्य नहीं है, वही विषय नहीं हो, तो वह विषय अन्वेष्टव्य दृश्य का कारण या कार्य है। यदि दो दृश्य ऐसे हों कि परस्पर एक के परिवर्त्तन से दूसरा भी किसी प्रकार परिवर्त्तित हो, तो इन दोनों में से एक-दूसरे का कार्य या कारण है, अथवा दोनों किसी दूसरी एक ही वस्तु से कार्य-कारण-भाव-सम्बन्ध के द्वारा सम्बद्ध हैं। अन्तिम, अर्थात् पारिशेष्य नियम यह है कि यदि किसी उदाहरण में और सब दृश्यों का कारण प्रथमतः और व्याप्तिग्रहों से विदित है, पर एक विशेष दृश्य का कारण नहीं ज्ञात है और दूसरे किसी दृश्य का कार्य नहीं ज्ञात है, तो ये दोनों दृश्य परस्पर कार्य-कारण-भाव-सम्बन्ध रखते हैं।

आचार के विषयों में मिल ब्रेण्टहम का अनुगामी था और सब वस्तुओं का सुख जिस कार्य से हो, उसीका अनुसरण मनुष्य का कर्त्तव्य समझता था। पर, बेण्टहम से इसका इतना भेद था कि सुखों में परस्पर केवल परिणाम-प्रयुक्त ही भेद नहीं, किन्तु गुण-प्रयुक्त भेद भी मिल मानता था, अर्थात् जिससे अधिक सुख हो, ऐसे कार्यों के लिए थोड़ा सुख जिससे हो,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

वैसे कार्य को छोड़ना मिल के अनुसार सर्वदा धर्म नहीं है। दो सुखों में, शरीर से मानस, मानस में भी विषय-सुखों से शान्ति-सुख उत्तम है, इसलिए उत्तम सुख थोड़ा भी हो, तो अधम सुख की ओर ध्यान नहीं देना मिल का मत है। सुखों में उत्तम-अधम का प्रयोजक क्या है और उसका किस प्रकार निश्चय हो, यदि निश्चय भी हो, तो वही गुणभेद-प्रयोजक जो पदार्थ है, वही मनुष्य का उद्देश्य क्यों नहीं इत्यादि शंकाएँ मिल के विरोधियों ने उठाई है और वे संगत मालूम पड़ती हैं।

अब, वर्तमान शताब्दी में इंगलैएड के सबसे बड़े दार्शनिक स्पेन्सर और जीवशास्त्रज्ञ विकासवादी डार्विन के मत कैसे हैं, सो आठवें अध्याय में दिखाया जायगा।

अष्टम अध्याय

आज से प्रायः सौ वर्ष पहले श्रूसबेरी में डार्विन का जन्म हुआ। चार्ल्स डार्विन की स्वाभाविक प्रवृत्ति विज्ञान की ओर, विशेषतः जीवशास्त्र के अभ्यास में हुई। जब वह, इक्कीस-बाईस वर्ष का हुआ तो बीगल नाम के जहाज पर इसने पृथ्वी के चारों ओर यात्रा की। दूर-दूर के टापुओं में एक टापू के एक ही जाति के जन्तुओं में अनेक छोटे-छोटे भेद पाकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ कि क्या कारण है कि एक ही जाति के जन्तुओं में इतना अन्तर पड़ा। इसी विचार में डार्विन पड़ा था कि मैल्थस की प्राणिवृद्धि पर प्रबन्ध उसके हाथ लगे। इन लेखों में मैल्थस ने यह दिखलाया है कि प्राणियों की संख्या स्वभावतः इतनी बढ़ती पर रहती है कि यदि अनेक जीवन के विरोधी उपद्रव न होते, तो किसी जन्तु को खाने को नहीं मिलता और पृथ्वी पर रहने की जगह न मिलती।

इस बात को पढ़कर डार्विन के चित्त में आया कि यदि ऐसी बात है, तो इस जीवन की प्रतिद्वन्द्विता में उन्हीं प्राणियों के बचने का सम्भव है, जिन्हें कि किसी कारणवश ऐसी शारीरिक रचना या शक्ति हो कि विशेष प्रदेशों में तथा और जन्तुओं की अपेक्षा उन्हें प्राण बचाने की अधिक सुविधा हो। जिन जन्तुओं को ऐसी सुविधा नहीं होगी, वे नहीं बच सकते। इस प्रकार, जो जन्तु किसी कारणवश अपने विशेष निवासस्थान के योग्य शरीर रखते होंगे, उन्हीं की सन्तति भी बढ़ेगी। औरों की जाति या तो नष्ट हो जायगी या और कहीं जाकर रहेगी, जहां उनके लिए ठीक सुविधा हो। इसी योग्य रक्षा (Survival of the Fittest) की बुनियाद पर डार्विन ने अनेक ग्रन्थ लिखे, जिनमें से मुख्य 'जात्यन्तरों का मूल' (Origin of Species) और 'मनुष्य का अवतार' (Descent of Man) हैं। प्रतिद्वन्द्विता प्रकृति का एक नियम है। यह नियम शाश्वत और सार्वत्रिक है। यह प्रतिद्वन्द्विता प्राणियों की अतिवृद्धि से होती है, इसलिए जिन प्राणियों में जीवन-रक्षा के लिए परिवृत्त की शक्ति होती है, अर्थात् जैसी अवस्था आवे, उसीके अनुसार जो प्राणी अपने स्वभाव का परिवर्तन कर सकता है, वही बचता है और

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

अनुसन्धानी पद्धति

सन्तान-वृद्धि भी कर सकता है। इसी प्रकार अवस्थानुसार रूप-परिवर्त्तन होते गये हैं और प्राणियों की भिन्न जातियाँ संसार में प्रकट हुई हैं, जिन्हें कितने लोग भिन्न सृष्टि समझते हैं।

इस विकास-सिद्धान्त के निश्चय के लिए, पहले तो, डार्विन को अपनी यात्रा में अनेक जन्तुओं का निरीक्षण करना पड़ा, फिर मैल्थस का ग्रन्थ पढ़कर सन्तान-वृद्धि की स्वाभाविक अतिप्रवृत्ति से प्रतिद्वन्द्विता का अनुमान हुआ। उसके बाद प्रतिद्वन्द्विता के कारण जो प्रवृत्ति में योग्यता-निर्धारण (Natural Selection) होता है, अर्थात्, प्रकृति योग्य व्यक्तियों को चुनकर उनकी रक्षा करती है और अयोग्य असमर्थ व्यक्तियों की उपेक्षा करती है, जिससे उनका अन्ततः नाश हो जाता है, इस विषय की, अनुभव के द्वारा, परीक्षा करनी पड़ी। वैज्ञानिक सिद्धान्तों के निश्चय में ये ही तीन मुख्य व्यापार हैं—निरीक्षण, अनुमान और परीक्षा। निरीक्षण और अनुमान किस प्रकार डार्विन ने किया, सो ऊपर कहा गया है। परीक्षा में चार बातों से डार्विन को सहायता मिली। घोड़े, भेड़ आदि जन्तुओं को पालनेवाले अपने मतलब के लायक जन्तुओं का संग्रह कर उन्हीं से जिस जाति का जन्तु पैदा करना चाहते हैं, उनसे भिन्न जाति के व्यक्तियों को छाँट देते हैं और अभीष्ट जातिवालों से अपनी इच्छानुरूप सन्तान पैदा कराते हैं। दूसरी बात यह है कि जिन पशु-पक्षी आदि की जातियाँ नष्ट हो गई हैं, उनका वर्त्तमान जातियों से बहुत सादृश्य मिलता है, प्रायः भेद इतना ही रहता है कि नष्ट जातियाँ वैसी उत्तमता को प्राप्त न थीं, जैसी कि वर्त्तमान जातियाँ हैं। पृथ्वी पर जितनी जन्तु-जातियाँ हैं, उनमें परस्पर सादृश्य तीसरा प्रमाण है, जिससे हमलोग समझ सकते हैं कि किसी समय एक ही कोई छोटे जन्तुओं की जाति पृथ्वी पर थी, जिनके सूक्ष्म अण्डे-बच्चे या बीज जल, वायु आदि के प्रवाह से समस्त भूमण्डल पर फैले, जिनसे, विकासक्रम से, स्वयं वर्त्तमान जातियाँ निकली हैं। चौथी बात, विकास की साधक यह है कि गर्भावस्था में प्रायः अनेक जन्तु एक ही-से देख पड़ते हैं और कितने अपूर्ण (Rudimentary) इन्द्रिय गर्भावस्था में पाये जाते हैं, जिनका पूर्ण विकास कितने जन्तुओं में नहीं होता। इन सब बातों से प्राकृतिक योग्य-संग्रह (Natural Selection) और योग्यतम-रक्षा (Survival of the Fittest) पूर्ण रीति से सिद्ध होती है।

डार्विन स्वयं इस बात को समझता था कि उसकी विकास-कल्पना (Evolution Hypothesis) के लिए कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिल सकता। यह, कल्पना तभी सिद्धान्तित हो सकती है, जब कि कोई विषय इसके विरुद्ध वैज्ञानिक परीक्षा में न मिलें, पर, यह बात काल के अधीन है। चिरकाल बीतने पर भी यदि कोई वैज्ञानिक विरोध विकास-कल्पना पर न आवे, तो इसे सिद्धान्त समझना चाहिए।

विकास-कल्पना में अन्तिम आपत्ति यह पड़ती है कि जिन भिन्न प्रकार के व्यक्तियों में से देशकालोपयुक्त व्यक्तियाँ प्रकृति से चुनी जाती हैं और रक्षित और परिवर्तित होती हैं और तदनुसार नाना प्रकार के जन्तु संसार में प्रकट होते हैं, उन व्यक्तियों में प्रथम भेद

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

कहाँ से आया। जन्तुओं के जातिभेद का मूल बतलाती हुई विकास-कल्पना जब अन्तिम व्यक्तिभेद पर पहुँचती है, तो सर्वथा अड़ जाती है और कुछ कह नहीं सकती। इस आपत्ति को डार्विन खूब समझता था और अवस्थाभेद से तथा इन्द्रियों के उपयोग और अनुपयोग से व्यक्तियों में प्रथम भेद उत्पन्न होते हैं, यह उसे मानना पड़ा था। सर्द-गर्म आदि अवस्था-भेद से व्यक्तियों में भेद होता है। इसी प्रकार, जिस अंग का या जिस शक्ति का उपयोग हुआ, वह अंग या शक्ति सुरक्षित है और जिसका उपयोग न हुआ, उसके लुप्त होने का सम्भव रहता है। इन कारणों से या और किसी कारणान्तर से व्यक्तियों में जो भेद पड़ता है, उन भेदों की कैसी रक्षा, वृद्धि आदि होती है, यही दिखलाना डार्विन का प्रधान उद्देश्य था।

जिस प्रकार छोटे-से-छोटे जन्तुओं से विकासक्रम से बड़े जन्तु उत्पन्न हुए हैं, वैसे ही बड़े जन्तुओं के उत्पत्तिक्रम से अन्ततः मनुष्य उत्पन्न हुआ है। मनुष्य-बुद्धि से या मनुष्य-शरीर से पशु-बुद्धि में या पशु-शरीर में ऐसा कुछ भेद नहीं है, जिससे मनुष्य विकास-क्रम से बाह्य हो। मछलियों के शरीर और बुद्धि से जितना बन्दर की बुद्धि और शरीर में भेद है, उससे कहीं थोड़ा भेद बन्दर और मनुष्य में है। इसलिए, मछलियों से कछुआ आदि क्रम से जैसे बन्दरों का आविर्भाव हुआ, वैसे ही बन्दरों से मनुष्यों के आविर्भाव में कुछ आश्चर्य नहीं मानना चाहिए। स्मृति, सौन्दर्यज्ञान, सहानुभूति आदि पशुओं को मनुष्य ही के सदृश हैं; विवेक भी पशुओं में वर्त्तमान हैं, नहीं तो घोड़े आदि पशुओं की शिक्षा नहीं हो सकती थी। इसलिए कीड़ों से लेकर मनुष्य तक विकासक्रम निर्विवाद समझना चाहिए।

डार्विन ने परस्परविरोध या प्रतिद्वन्द्विता शाश्वत और सार्वत्रिक मानी है, जिससे कितने धार्मिक दार्शनिकों को बड़ी घृणा हुई; क्योंकि यदि विरोध ही जगत् का स्वभाव होता; तो उपकार, ईमान आदि की स्थिति संसार में कैसे पाई जाती। पर, डार्विन का कहना है कि उपकार, सहानुभूति, ईमान आदि सब गुण व्यक्तियों में अपनी खास या अपनी जाति की रक्षा के लिए पाये जाते हैं। शुद्ध स्वार्थनिरपेक्ष कोई गुण नहीं है। सहानुभूति आदि गुणों को रखनेवाले जन्तु सहानुभूतिशून्य जन्तुओं की अपेक्षा अधिक रक्षा की आशा और जन्तुओं से रख सकते हैं, इसलिए, सहानुभूति आदि गुण भी स्वरक्षाहेतुक ही हैं। इसके अतिरिक्त, यह भी खयाल रखना चाहिए कि सहानुभूति, परार्थ आदि गुण केवल मनुष्यों ही में नहीं हैं, कितने पशुओं में ये गुण अधिक पाये जाते हैं, और जब ऐसी अवस्था है, तो उस बन्दर से उत्पन्न होना अच्छा है कि जो अपने स्वामी के लिए अपना प्राण देने को तैयार होता है, या उस असभ्य मनुष्य से जो, अपने पड़ोसी की पीड़ाओं में अपना सुख मानता है और उसके लड़केवालों को मारकर अपना जीवन धन्य समझता है और अनेक भूत-प्रेत आदि के भ्रमों में अपनी जिन्दगी व्यर्थ गँवाता है?

सामाजिक सहानुभूति की शक्ति और स्मृति और विचार और भाषा की शक्ति आचारज्ञान के लिए अपेक्षित हैं। अपने किये हुए कार्यों को मनुष्य स्मरण करता है और एक कार्य को दूसरे कार्य से मिलाकर विचारता है कि वर्त्तमान अवस्था के लिए उन

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

कार्यों में से कौन ठीक होगा। भाषाज्ञान होने के कारण जो कार्य अधिक लोगों की प्रशंसा पाते हैं, वैसे कार्यों में मनुष्यों की अधिक प्रवृत्ति होती है और विभिन्न कार्यों से जी हटता है। धीरे-धीरे प्रवृत्ति बढ़ते-बढ़ते अभ्यास ऐसा पड़ जाता है कि ऐसे ही कार्यों की ओर स्वभावतः मनुष्य चलता है। इसके अतिरिक्त, सहानुभूति, पदार्थप्रवृत्ति आदि में ऐसी कोई बात नहीं है, जिससे विकास-सिद्धान्त में कोई बाधा पड़े।

ईश्वर के विषय में मनुष्य की बुद्धि नहीं पहुँच सकती, ऐसा समझकर डार्विन प्रायः कुछ नहीं कहता था। लोगों का दुःख देखकर कारुणिक और सर्वज्ञ ईश्वर मानने में कभी-कभी डार्विन को आपत्ति भी पड़ती थी; क्योंकि वह समझता था कि यदि कारुणिक परमज्ञानवान् शासक कोई इस जगत् का होता, तो अपने उत्कृष्ट ज्ञान के द्वारा उत्तम-से-उत्तम निर्दुःख संसार की कल्पना कर अपनी करुणा से वैसा ही बनाता। डार्विन ने अनुभव आदि और भी दार्शनिक विषयों पर अपना मत प्रकाशित किया है, जो संक्षेप के कारण यहाँ नहीं दिया जा सकता।

विकास-सिद्धान्त का व्याख्याता वर्त्तमान शताब्दी में इंगलैंड का महादार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर था। डर्बी प्रदेश में इसका जन्म हुआ। स्पेन्सर, बिना विश्वविद्यालय की सहायता के स्वयं शिक्षित हुआ। इसके 'प्रथम तत्त्व', 'मनोविज्ञान-तत्त्व', 'समाजशास्त्र' आदि अनेक ग्रन्थ हैं। प्रायः दो वर्ष इसको मरे हुए।

स्पेन्सर के मत से, कैसा ही भ्रममय कोई मत क्यों न हो, प्रत्यक्ष ही सब मत का मूल है। इसलिए, सबमें कुछ-न-कुछ सत्य का अंश रहता है। न कोई मत सर्वथा सत्य है, न सर्वथा असत्य है। सब मतों में जो सामान्य अंश है, उसका संग्रह करना चाहिए और सत्य समझना चाहिए। धर्म और विज्ञान में तो बराबर का झगड़ा है। इस विरोध के भी मूल का अन्वेषण करना चाहिए। जिस मूल से यह विरोध निकला, वही वास्तव है। धार्मिक लोगों के सृष्टिवाद आदि परस्परविरुद्ध और व्याहृत हैं। जैसा काण्ट ने विरोधाध्याय (Antinomies) में दिखलाया है, उसके अनुसार, संसार को न तो नास्तिकों के मत में पड़कर स्वाभावसिद्ध ही मान सकते हैं, न वेदान्तियों की तरह उसे आत्मकल्पित कह सकते हैं, या द्वैतवादी भक्तों का-सा उसे बाह्य शक्तिकृत समझ सकते हैं; क्योंकि जिधर जाते हैं, उधर ही अनिवार्य आपत्तियाँ आती हैं। हैमिल्टन और उसके अनुयायी मैंसेल ने यह स्पष्ट दिखलाया है कि जगत् का एक स्वतन्त्र आदिकारण (Absolute) मानने में अनेक विरोध हैं, क्योंकि आदिकारण यदि स्वतन्त्र जगद्बाह्य है, तो उससे जगत् को कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता और यदि सम्बन्ध हुआ, तो स्वतन्त्रता जाती रही। पर, इन सब विरोधों के रहते भी, अत्यन्त भ्रान्त भूतादिवादों से लेकर बड़े दर्शनों तक, सबमें एक बात अवश्य समान देखी जाती है कि सब संसार का मूल कुछ रहस्य अप्रमेय समझते हैं, जिसका वर्णन प्रत्येक मत करना चाहता है, पर कर नहीं सकता।

प्रोटागोरस से काण्ट तक सब दार्शनिकों के विचारों से यह स्पष्ट स्थिर हुआ है कि यह अप्रमेय सर्वव्यापी, जिसका प्रकाश सब प्रमेयों में हो रहा है, यह परमार्थ, सब दृश्यों

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

के पीछे छिपा हुआ, स्वयं कभी ज्ञानगोचर नहीं हो सकता, अर्थात्, मनुष्य का ज्ञान कभी स्वप्रमितिक तक नहीं पहुँच सकता। यह बात दो प्रकार से प्रमाणित हो सकती है। एक तो, अन्तिम वैज्ञानिक प्रत्ययों की दुर्बोधता से व्याप्तिविधया (Inductively) इसका स्थापन हो सकता है, और दूसरे, बुद्धि के स्वभाव से ज्ञानव्यापार की परीक्षा के द्वारा अनुमान से इसका उपपादन किया जा सकता है। दिक्काल, द्रव्य, गति, शक्ति, चित्त, आत्मा, परमात्मा आदि प्रत्यय हैं, जिनका मूल और स्वभाव दुर्बोध और अनिर्वचनीय है। विशेष प्रत्ययों को सामान्य में फिर उनको और बड़े सामान्य में ले जाते, ले जाते, अन्ततः परासत्ता पर स्थिरता होती है, जिसका किसी और बड़े वर्ग में अन्तर्भाव नहीं हो सकता और इसीलिए निर्वचन भी नहीं हो सकता। ज्ञान के प्रत्येक व्यापार में अनेक वस्तुओं का सम्बन्धभेद और सादृश्य अपेक्षित है, अर्थात् ज्ञान सम्बन्धग्रहण-रूप है। इसलिए, जिस वस्तु का वस्त्वन्तर से भेद, परिच्छेद और सादृश्य नहीं हो सकता, उसका बुद्धिगोचर होना असम्भव है। अप्रमेय, स्वतन्त्र, जगद्‌बाह्य परमार्थ न तो भेदग्रह के, न परिच्छेद के, न सादृश्य के योग्य है; इसलिए उसके बोध में तीन असम्भावनाएँ आ पड़ीं। पर, इस कारण हैमिल्टन और मैंसेल ने वैसे ईश्वर को सर्वथा अप्रत्येय समझ लिया है, वैसा नहीं समझना चाहिए। स्पेन्सर के मत से, ईश्वर का विशेष स्वरूप क्या है, सो नहीं जाना जा सकता; पर उसकी सत्ता जानी जाती है; क्योंकि यदि बोध सम्बन्ध-ग्रहण में नियत है, तो इससे अवश्य जान पड़ता है कि सम्बन्धातीत भी कुछ वस्तु है, जहां बोध नहीं पहुँच सकता। इसीलिए सबको अप्रमेय, अविषय कारण और सर्वान्तिर्यामिणी शक्ति में पक्का विश्वास है।

ज्ञान सम्बन्धसापेक्ष है। एक सामान्य ज्ञान के बाद दूसरा, उसके बाद तीसरा, ऐसे ही चलते-चलते, सामान्य ग्रहों की परम्परा बन जाती है। साधारण मनुष्यों का ज्ञान परस्पर असंघटित है। वैज्ञानिक ज्ञान कुछ-कुछ संघटित है, दार्शनिक ज्ञान सर्वथा संघटित और एकीभूत (Unified) है। अप्रमेय एक शक्ति, उस शक्ति के प्रमेयविवर्त्तों में प्रमेय, सादृश्य और भेद, इन प्रमेयों में आत्मा और अनात्मा का भेद आदि दर्शन के विषय हैं। दिक् या समकालिक स्थिति के सम्बन्ध, काल या अपरिवर्त्य क्रम के सम्बन्ध, द्रव्य अर्थात् रोधक स्थितियों की समानकालिक वृत्ति, गति, जिसमें दिक्, काल, द्रव्य, तीनों की अपेक्षा है और शक्ति, जो कि मूलों का मूल है, जिसपर सब निर्भर है और जिसके वासनात्मक अनुभव से और सब संवित् होते हैं—ये सब भी दर्शन के विषय हैं। शक्ति की सार्वकालिक सत्ता ही मूल परमार्थ है, जिससे द्रव्य की अविनाश्यता, गति का सातत्य, शक्तियों के सम्बन्ध की नित्यता, अर्थात् नियमों की एकरूपता, शारीरिक, मानसिक और सामाजिक शक्तियों का परिणाम और तुल्यपरिवर्त्तिता, गति का दिङ्‌नियम, अर्थात् उसकी अल्पतमविरोध-रेखानुसारिता, गुरुतमाकर्षणानुसारिता, और इन दोनों का योग और गति का अविच्छिन्न प्रवाह आदि निकलता है।

इन विषयों के अतिरिक्त दर्शन ने एक नवीन तत्त्व यह भी स्थापित किया है कि द्रव्य का सदा विभाग-परिवर्त्तन (Redistribution) हुआ करता है। संसार का

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रत्येक अवयव और समस्त संसार भी सदा विकास और संकोच (Evolution and dissolution), इन दो व्यापारों में लगा हुआ है। विकासावस्था में द्रव्य का संघीभाव और संकोचावस्था में शिथिलीभाव होता है।

इस प्रकार, दर्शन के सामान्य तत्त्वों का व्याख्यान कर स्पेन्सर ने दर्शन के विशेष विभागों का व्याख्यान करना आरम्भ किया है। इन विशेष विभागों में तीन मुख्य हैं: जीवन-विभाग, मनोविभाग और समाजविभाग। निर्जीव संसार का विषय छोड़कर पहले-पहल 'जीवशास्त्र का तत्त्व' (Principles of Biology) स्पेन्सर ने लिखा है, जिसमें आन्तर सम्बन्धों की बाह्य सम्बन्धों के साथ अविच्छिन्न मिलावट को ही उसने जीवन समझा है। इन दोनों सम्बन्धों का पुनः परस्पर सम्बन्ध मनोविज्ञान में पूर्णरूप से दिखलाया गया है। मनस्तत्त्व स्वयं क्या है, इस बात को विज्ञान नहीं कह सकता। स्वयं मनस्तत्त्व अज्ञेय है, केवल जिन अवस्थाओं में यह प्रकाश होता है, उन अवस्थाओं की परीक्षा विज्ञानाधीन है। नाड़ीनिष्ठ आघात (Nervous Shock) ही अन्तिम अवयव संवित् के हैं। संवेदन और संवेदनों में सम्बन्धों से चित्त बना है। इन्हीं संवेदनों के स्मरण, परस्पर सम्बन्ध और संघीभाव से समस्त संवित् बना है। इसलिए चित्त की भिन्न वृत्तियों में परस्पर अत्यन्त भेद नहीं है। चित्तव्यापार में प्रतिफलन (Reflex action), स्वाभाविक क्रिया, स्मरण, विवेक ये क्रम हैं। जो संवित् के रूप व्यक्तियों में स्वाभाविक और सहज हैं, वे भी जाति में किसी-न-किसी समय अनुभव से प्राप्त हुए थे और पीछे नाड़ीजाल में जमकर पिता-माता से पुत्रों के शरीर में आये हैं। बाह्य शरीर के द्वारा नाड़ी पर आघात होता है। नाड़ियों का धर्म ज्ञान है। चित्त और शरीर, दोनों ही अप्रमेय के रूपान्तर हैं। संवित् के एकीभाव और विभाग का प्रवाहरूप चित्त है। वही परमार्थ है, जिसके अभाव की उत्प्रेक्षा हो सके। इस नियम के अनुसार, सद्वाद संविद्वाद से उत्तम है, पर सद्वाद का वह रूप ठीक है, जिसके अनुसार पारमार्थिक सत्ता-मात्र जानी जाती है, पर उस सत्ता का निर्वचन नहीं हो सकता। इसी मत को स्पेन्सर ने रूपान्तरित सद्वाद (Transfigured Realism) कहा है।

निद्रा, स्वप्न, मूर्च्छा, मृत्यु आदि को देखकर शरीर से भिन्न चित्त कोई वस्तु है, ऐसा विश्वास प्राचीन मनुष्यों में हुआ। यह चित्त या प्राण या शरीरातिरिक्त आत्मा मरने पर कहीं रहता है और जीते हुए लोगों को सुख-दुःख आदि देने का प्रयत्न करता रहता है, ऐसा विश्वास रखकर मनुष्यों में जादू, तन्त्र, प्रार्थना, प्रशंसा आदि से इन प्रेतों को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया। इसी पितृपूजा से अनेक वृक्षपूजा, मूर्तिपूजा, जन्तुपूजा आदि धर्म निकले। मनुष्य केवल जीवित जन्तुओं से ही नहीं, वरन् भूत जन्तुओं से भी अपने को सम्बद्ध समझते थे। चारों ओर उनके भूत, प्रेत, पिशाच, सती, वीर, ब्रह्मराक्षस आदि घेरे हुए हैं, ऐसा वे समझते थे। जीवित के भय से दण्डभय और मृतभय से धर्मभय निकला।

युद्ध और वैश्यवृत्ति सबसे प्राचीन सामाजिक वृत्तियाँ हैं। युद्धवृत्ति में पारवश्य और वैश्यवृत्ति में स्वातन्त्र्य मुख्य है। धर्म की उन्नति का मुख्य उद्देश्य आदि

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

कारण से मनुष्य-भावनाओं को निकालकर, भूत-प्रेत आदि में विश्वास छोड़कर शुद्ध अप्रमेय का भजन है। इस प्रकार, सामाजिक तत्त्वों का व्याख्यान कर स्पेन्सर ने आचारतत्त्वों का व्याख्यान किया है।

जिस आचरण को अच्छा या बुरा कह सकते हैं, वही आचारशास्त्र का विषय है। उद्देश्य के अनुरूप व्यापार को आचार कहते हैं। अपना जीवन, सन्तान का जीवन और सामाजिक जीवन, जिससे पूर्णता को पहुँचे और इस उद्देश्य के पूर्ण अनुरूप व्यक्तियों का आचरण हो, इसी पर आचार-विकास का लक्ष्य बराबर रहा है। किसी आचरण की उत्तमता की परीक्षा के लिए यह देखना आवश्यक है कि उसमें अनुष्ठानप्रयुक्त दुःख की अपेक्षा फलीभूत सुख अधिक है या कम। जिस कार्य के करने में दुःख जितना हुआ, उससे कहीं अधिक यदि सुख आगे निकल सके, तो वह कार्य अच्छा है, यदि सुख कम निकले, तो बुरा है। आधिभौतिक, आध्यात्मिक और सामाजिक नियमों के अधीन आचरण की परीक्षा है। स्वार्थ और परार्थ, दोनों पृथक् होने से अनर्थकारक हैं; दोनों में मेल होने से आचार की उन्नति होगी। सबसे पहले स्वार्थप्रयुक्त कलह होती है, फिर प्रत्येक का स्वार्थ परस्पराधीन देखकर मनुष्य प्रेममय जीवन को पसन्द करते हैं। सामाजिक आचारों में न्याय और उपकार मुख्य हैं। न्याय के अनुसार अपने स्वभाव और आचार की भलाई-बुराई का उचित अंश कर्ता को मिलता है। प्रतिकार का भय, सामाजिक अपवाद, राजदण्ड, देवदण्ड आदि का भय परार्थन्याय में सहकारी है और स्वार्थन्याय स्वातन्त्र्य की इच्छा से प्रवृत्त होता है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के स्वातन्त्र्य का विरोध न कर जितना जो कुछ चाहे कर सकता है, यही न्याय का नियम है।

समाज में राज्य और राजशासन की आवश्यकता परस्पर विरोध के कारण पड़ती है। प्रजा में परस्पर अन्तर्भेद को बचाना और प्रजा की बाहरी शत्रुओं से रक्षा करना राज्य का कार्य है।

इस प्रकार, एक ओर डार्विन, स्पेन्सर आदि वैज्ञानिक दर्शन (Positive Philosophy) पर चल रहे थे, जब इंगलैण्ड में, दूसरी ओर से, काण्ट और हेगेल के अनुगामियों के संविद्वाद (Idealism) का प्रवाह आया। ग्रीन, ब्रैडले आदि अनेक संविद्वादी हाल में आंग्लभूमि में हुए हैं; इनमें मुख्य ग्रीन है, जिसके दर्शन का संक्षिप्त वृत्तान्त यहाँ दिया जाता है।

आंग्ल-दर्शन में जो लॉक से लेकर स्पेन्सर तक अनुभववाद (Empiricism) चला आया, उसके विरुद्ध ग्रीन ने यह दिखलाया है कि ज्ञान का सम्भव तभी है, जब सम्बन्धग्राही का आत्मा संवित् हो। इसलिए आत्मज्ञ प्रमाता अवश्य है। बाहर प्रकृति को देखें तो भी, मालूम होता है कि यह समस्त संसार सम्बन्धमय है, इसलिए इन सम्बन्धों का ग्राहक भी आत्मतत्त्व है। इसलिए, आत्मज्ञानवान् स्वप्रमितिक ईश्वरमय यह सब संसार है। आत्मा अनात्मा का कोई भेद नहीं। शरीर से नियत इसी ईश्वर के अंश को जीव कहते हैं।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

पूर्णता को पहुंचना ही मनुष्य के आचार का उद्देश्य है। पुरुषों के ही रूप से ईश्वर संसार में प्रकाशित होता है और पुरुषों का जीवन समाज में ही सम्भव है, इसलिए सामाजिक जीवन पुरुषों के पूर्णता पर पहुंचने का उपाय है। इसलिए, मनुष्य के आचार का उद्देश्य ऐसा होना चाहिए, जिसमें किसी की हानि न हो, सबकी भलाई हो। यही, सबकी भलाई के साथ अपनी भलाई की दृष्टि, आचार का बीज है। ग्रीन के अनुगामी वैलेस, ऐडम्सन, ब्रैडले, सेथ आदि हैं। इसके परीक्षक और विरोधी सिज्विक आदि हैं।

नवम अध्याय

जर्मनी में हेगेल और हर्बर्ट के बाद स्वतन्त्र विचार के दो दार्शनिक हुए—फेक्नर और लोज। गुस्टाव थियोडोर फेक्नर लीप्सिग में अध्यापक था। धार्मिकों ने और प्रकृतिवादियों ने ईश्वर और संसार को पृथक् परस्पर अत्यन्त भिन्न मानकर अपना-अपना शास्त्र चलाया है। फेक्नर के मत से यह अत्यन्त अनुचित है। जैसे आत्मा और शरीर परस्पर सम्बद्ध हैं, वैसे ही ईश्वर और संसार भी। द्रव्य के अवयवों का परस्पर सम्बन्ध आत्मशक्ति का कार्य है। जैसे जीवात्मा शरीर के व्यापारों को और अवस्थाओं को संवित् की एकता में इकट्ठा कर रहा है, वैसे ही परमात्मा समस्त सत्ता और भावों का ऐक्य है। समस्त प्रकृति ईश्वर का शरीर है। नक्षत्र, वृक्ष आदि सब सात्मक और सजीव हैं। मृत और निर्जीव से जीव नहीं पैदा हो सकता, तो यदि पृथ्वी निर्जीव होती, तो इससे जीव कैसे हो सकते। जिस रूप-गन्ध से जन्तुओं को इतना आनन्द होता है, उस अपने ही रूप और गन्ध से फूल को क्या आनन्द नहीं होता होगा? अवश्य ही होता होगा। मनुष्य की आत्मा केवल मध्य में है। उसके नीचे की श्रेणियों में वृक्ष आदि की आत्मा है और उसके ऊपर की श्रेणियों में नक्षत्र-ग्रह आदि की आत्मा है। इन सब आत्माओं का ऐक्य चित्त-स्वरूप परमात्मा में होता है। परमात्मा की सर्वव्यापिता के बोध से उजाड़ विज्ञानवाद की रात्रि से मनुष्य बचता है। वैज्ञानिकों के अनुसार, चित्त के अतिरिक्त सब कुछ अन्धकार-मय है; पर यह बात सर्वथा असंगत है; क्योंकि रूप, रस, शब्द आदि जीवगत चितिशक्तिनिष्ठ भास-मात्र नहीं हैं। ये पारमार्थिक ईश्वरीय ज्ञान के अवयव हैं। जैसे पृथ्वी पर जीवन है, वैसे ही ऊपर के लोकों में जीवन हैं; केवल एक-से-एक उत्तम लोक हैं; दुःख या तम केवल सुख का मूल है। बिना तम के रज और सत्त्व की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि बिना दुःख के उद्योग और ज्ञान की ओर कोई जाता ही नहीं।

इस प्रकार दार्शनिक विषयों को दिखलाकर वेबर आदि मनोविज्ञानवेत्ताओं के निकाले हुए नये 'मनःशरीर सम्बन्धशास्त्र' (Psycho-physics) में फेक्नर ने ध्यान दिया। फेक्नर के वैज्ञानिक 'रात्रिमत' के विरुद्ध दार्शनिक 'दिनमत', जैसा ऊपर दिखला आये हैं, शुद्ध विश्वास पर निर्भर है, जिसका मूल इतिहास, धर्म और आचार, तीनों ही हैं। पर, मन और शरीर, अर्थात्, अन्तःकरण और बाह्यकरण के सम्बन्ध के अन्वेषण

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

में फेक्नर ने विश्वास पर निर्भर न रहकर शुद्ध वैज्ञानिक रीति से तत्त्व-निश्चय का यत्न किया। हर्बर्ट ने मन के व्यापारों को साक्षात् नापना चाहा था, पर उसका प्रयत्न सुफल नहीं हुआ। अब फेक्नर इन्द्रियों के व्यापार के द्वारा मन के व्यापारों को नापने में सफल हुआ। वेबर ने दिखलाया था कि संवेदन के बल में घटती-बढ़ती बाह्येन्द्रियोत्तेजना के सम्बन्ध की घटती-बढ़ती के परिणाम के तुल्य होती है। अर्थात्, यदि आँख पर एक संख्या के प्रकाश पड़ने के बाद उससे शतगुण शीघ्र पड़े, तो देखनेवाले को प्रकाश के एक और सौ में उतना ही अन्तर जान पड़ेगा, जैसा कि २ और २०० या ३ और ३०० इत्यादि में। इसी सम्बन्ध का, और पहले-पहल किस इन्द्रिय के संवेदन में किस परिणाम का भेद पड़ने से अन्तर स्पष्ट विदित होता है, इस विषय के अन्वेषण में फेक्नर ने परिश्रम किया।

फेक्नर के अन्वेषण से यह विदित होता है कि जैसे वेबर ने आँख पर उदाहरण दिखाया है, वैसे ही त्वगिन्द्रिय आदि के विषय में दिखाया जा सकता है। देखा गया है कि पन्द्रह रत्ती का बोझ यदि हाथ पर दिया जाय (जब हाथ स्थिर और किसी चीज के अवलम्ब पर रहे), तो फिर एक रत्ती और देने से कुछ भेद मालूम होता है। जब पाँच रत्ती और दिया जाय, तब भेद मालूम होता है, तो यदि ३० रत्ती पहले देकर फिर कितनी रत्तियों के अधिक होने से बोझ में भेद मालूम पड़ेगा, यह यदि प्रश्न किया जाय, तो उत्तर पाँच नहीं होता, दस होता है। अर्थात्, जितना गुना अधिक संवेदन-कारण होगा, उतनी ही गुनी अधिक वृद्धि होने से अन्तर जान पड़ता है। गुरुत्व और शब्दसंवेदन में ३:४ का अन्तर पड़ने से भेद मालूम होता है। पेशी के तनाव (Muscle sense) में १५:१६ का अन्तर पड़ने से संवेदन-भेद होता है। दृष्टि में १००:१०१ भेद पड़ने से अन्तर मालूम होता है।

इन अन्वेषणों से फिर भी फेक्नर ने यह सिद्ध किया है कि आत्मा और शरीर अयुतसिद्ध, अर्थात् नित्यक हैं, न निरात्मक शरीर हो सकता है, न निःशरीर आत्मा। परमार्थ एक है। वही अपने लिए आत्मरूप और दूसरों के लिए शरीररूप देख पड़ता है। यह बाह्य संसार केवल ईश्वरीय महाविज्ञानस्वरूप है, जो सब व्यक्तिनिष्ठ विज्ञानों को घेरकर वर्त्तमान है।

हाल में, जर्मनी का दूसरा स्वतन्त्र विचारक रुडोल्फ हर्मान लोज हुआ है, जो गोटिंगन में अध्यापक था। लोज कहता है कि सब दर्शन का विषय परमार्थ या सत् है। यह सत् क्या है? देखने से विदित है कि जो वस्तु वर्त्तमान है, जो वृत्तान्त होते हैं, जो सम्बन्ध उपस्थित हैं, जो नियम अबाधित हैं—ये सब पारमार्थिक हैं। जिसे मनुष्य सत् कहता है कि अमुक वस्तु है, वह न तो स्वयं स्वतन्त्र स्थिति है, न शुद्ध सम्बन्ध है।

सम्बन्धनिरपेक्ष स्थिति या स्थितिनिरपेक्ष सम्बन्ध सत् नहीं है। अस्तित्व, स्थिति और सम्बन्ध उभयात्मक हैं। पारमार्थिक वस्तुस्वभाव कोई स्थिर गुण नहीं है। ये अनेक

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

गुण सन्तान की नियामक शक्ति-रूप हैं। लोग कहते हैं, जल वस्तु एक ही है, पर वाष्प, जल, बर्फ आदि अनेक अवस्था में रहता है। अर्थात् जलवाष्प, जलद्रव और जलघन आदि सभी अवस्था में जल अनुगत है। जल छोड़कर मिट्टी या सोना वह कभी नहीं है। अब यह देखना चाहिए कि यह अवस्थाभेद क्या है। यह केवल कार्य-विनिमय है। यदि प्रत्येक वस्तु अन्यवस्तुनिरपेक्ष पृथक् होती, तो भी कार्यभेद असम्भव है और यदि वस्तुओं में परस्पर तारतम्य की सम्भावना नहीं होती, तो भी कार्यभेद असम्भव है। यह सब दिक्कत और सत्कार्यवाद-असत्कार्यवाद की शंका तभी मिट सकती है, जब यह मान लिया जाय कि व्यापक अपरिच्छिन्न अन्यनिरपेक्ष वस्तु अपने ही परिमाणों को अवस्थान्तरों में दिखाती है। अब, परीक्षा से यह मालूम होता है कि चितिशक्ति ही ऐसी चीज़ है, जो अनेक अवस्थाओं में अपने को एक समझती है, अर्थात् एक होकर भी अनेक अवस्थाओं में प्राप्त होती है। इसलिए, यदि बाह्य वस्तु पारमार्थिक है, तो वह भी सात्मक है, इसकी आत्मा अनेक अवस्थाओं में भी एक रहती है। स्वतन्त्र अनन्यशेष अनन्यार्थ सत्ता को परमार्थ कहते हैं। सब वस्तु चिन्मय है और केवल चितिशक्ति ही वास्तव है, वस्तुतः बुद्धि ही में एक वस्तु से दूसरी वस्तु का सम्बन्ध है, बाह्य दिक्कालादि सम्बन्ध केवल कल्पित हैं। रूप, रस आदि वस्तु के प्रतिबिम्ब नहीं हैं। वस्तुव्यापार के ये फल हैं। ज्ञान समस्त जगद्व्यापार का उद्देश्य है और उद्देश्य ही परमार्थ है।

चितिशक्ति का जो अनेक वस्तुओं को एक कहने का व्यापार है, सो हजार जड़ शक्तियों से कभी साधित नहीं हो सकता। इसलिए, आत्मशक्ति मानना अत्यन्त आवश्यक है। दिक्काल, द्रव्य आदि चितिशक्ति ही की कल्पना है। स्वयं इनकी कल्पना कर इनके परस्पर सम्बन्ध का ग्रहण चितिशक्ति करती है। इसी आदिशक्ति या प्रथम द्रव्य के क्षणस्वरूप या अंशस्वरूप ये सांसारिक पदार्थ हैं। यह शक्ति स्वभावतः अनश्वर, अमर है। संसार में सभी वस्तु क्षणमात्र के लिए रहकर चली जाती है। एक आत्मशक्ति चित्स्वरूप अविनश्वर है।

लोज की भाषा सर्वदा रूपक से भरी है। अलंकार-भर होने के कारण बहुत स्थलों में सन्देह रह जाता है। परस्पर विरोध भी इसके मत में जहाँ-तहाँ पाया जाता है। कभी जान पड़ता है कि अनेक चितिशक्तियाँ इसके मत से हैं। कभी मालूम होता है कि चितिशक्ति को यह एक ही समझता था। इन विरोधों को इस संक्षिप्त वृत्तान्त में, जहाँ तक हुआ है, बचाया गया है।

एडुअर्ड वन हार्टमान जर्मनी का वर्तमान दार्शनिक है। इसकी अवस्था पैंसठ के समीप है। बाईस-तेईस वर्ष की अवस्था में यह युद्ध-विभाग में था; अब विद्वानों में प्रतिष्ठा है। सत्ताईस वर्ष की अवस्था में इसने अपना मुख्य ग्रन्थ 'अचेतन का दर्शन' लिखा। इस ग्रन्थ का शीघ्र ही इतना प्रचार हुआ, जैसा कि प्रायः कम बड़े दार्शनिक ग्रन्थों का हो सकता है।

वैज्ञानिक रीति से दार्शनिक कल्पनाओं का उपपादन हार्टमान का मुख्य उद्देश्य है। संसार को दुःखमय समझना और सुख की आशा नहीं रखना, अर्थात् निर्वेद (Pessi-

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

mism) हार्टमान के दर्शन में भरा है। इस विषय में यह सोपेनहावर का अनुगामी है। दार्शनिक रीति में यह फेक्नर और लोज का अनुगामी है।

हार्टमान के मत से, मूर्त द्रव्य अणुशक्तियों का परम्परा-रूप है। इन परमाणु-शक्तियों में कृतशक्ति उद्देश्य के स्पष्ट ज्ञान से रहित वर्तमान है। इसलिए, द्रव्य-मात्र ही प्रत्यय और कृतिस्वरूप है और चित् और चेतनीय का भेद पारमार्थिक नहीं है। इसी प्रकार, शरीर की स्थिति स्वाभाविक और अचेतन है। सभी अवयवों के कुछ उद्देश्य हैं, जिनका स्पष्ट ज्ञान अंगों को नहीं है। मनुष्य को जो प्रत्यक्ष होता है, सो प्रथम स्पष्ट ज्ञान से रहित ही होता है। सुख-दुःख आदि का भी मूल ज्ञान नहीं है, अज्ञानपूर्वक ही इनका भी उद्भव है, यहाँतक कि किस नाड़ी से और मस्तिष्क के किस अंश के उत्तेजन से क्या व्यापार और कैसी चित्तवृत्ति होती है, यह मनुष्य स्वयं नहीं जानता। स्वभावतः ये व्यापार होते हैं, पर स्वभाव तो अचेतन है। चेतनाशक्ति का कार्य केवल निषेध, परीक्षा, नियमन, परिमाण, तुलन, योजन, वर्गीकरण, व्याप्तिग्रह, अनुमान आदि हैं। चेतनाशक्ति से नई सृष्टि कभी नहीं हो सकती। सृष्टि अचेतन के अधीन है। चेतना अचेतन-व्यापार का उद्देश्य भी नहीं है। यह केवल अचेतन के उद्देश्य का उपाय-रूप है।

हार्टमान ने दिखलाया है कि दुःख का यथार्थ ज्ञान होने से मनुष्य उसका उदासीन परीक्षक होकर शान्ति पाता है, जैसा कि उसने स्वयं किया है। संसार में सुख की अपेक्षा दुःख अधिक है, इसलिए चेतन का कार्य संसार नहीं हो सकता। मूल तत्त्व की क्रियाशक्ति (रज), ज्ञानशक्ति (सत्य) से पृथक् होकर कार्य करती है, तथापि ज्ञानशक्ति सदा शक्ति का नियमन करती रहती है। इसलिए विकासवाद और दुःखवाद (Evolution and Pessimism) दोनों ही ठीक हैं। ईश्वर में फिर संसार मिल जायगा और मुक्ति पायगा, जब रज या कृतिशक्ति नष्ट हो जायगी।

पहले-पहल मनुष्य इस रजोमय संसार में सुख की आशा करता है, फिर यहाँ के दुःखों से भीत होकर परलोक में सुख की आशा होती है। फिर स्वर्ग और परलोक असम्भव-सा देख पड़ता है और, आज नहीं तो किसी समय, पृथ्वी ही पर सुख की और उन्नति की आशा होती है। पहली अवस्था नास्तिकों की, दूसरी आस्तिकों की तथा तीसरी विकासवादियों की है। इन तीनों सुख-मृगतृष्णा के भ्रमों को मिटानेवाला वैराग्य है, जिसके अनुसार न यहाँ, न स्वर्ग में, न आज, न कल किसी सुख की आशा है। केवल कामरूप ‡ दुःख को (जो रजोमय है) नष्ट कर मनुष्य की शान्ति हो सकती है।

---

‡ काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

—भगवद्गीता।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

जितनी ही श्रद्धा अधिक बढ़ती है, उतना ही दुःख और अशक्ति बढ़ती है। इच्छा अधिक बढ़ती जाती है, उसके परितोष के उपाय कम होते हैं। बद्ध और दुःखी संसारी जीव को ईश्वर के अभिमुख होकर मुक्ति का यत्न करने ही में वास्तव शान्ति और सुख है, न कि संसार का बखेड़ा बढ़ाने में। तथापि, जबतक ऐसी अवस्था नहीं आती, तबतक केवल दुःख के भय से कर्म नहीं छोड़ना चाहिए।

दशम अध्याय

यूरोप में दर्शन की साम्प्रतिक दशा अच्छी है। उपयोग की ओर अधिक दृष्टि है, इसलिए कल्पना-प्रधान दर्शन की अब प्रायः समाप्ति है। विशेषशास्त्र (मनोविज्ञान, उत्तमता-परीक्षा, तर्कशास्त्र, आचारशास्त्र, भक्तिशास्त्र) आदि को पृथक् लेकर व्याख्यान करनेवाले दार्शनिक इधर बहुत हुए हैं और अब भी वर्त्तमान हैं। सामान्य दर्शन के इतिहास अनेक लिखे गये हैं। विशेष दार्शनिक शाखाओं के भो इतिहास लिखे जा रहे हैं। सम्प्रति मनोविज्ञानवेत्ताओं में केम्ब्रिज के अध्यापक वार्ड, आंग्लभूमि में अपने शास्त्र के नेता हैं। अमेरिका में जेम्स और डेन्मार्क में हार्फ्डिंग इसी शास्त्र के विख्यात लेखक हैं। सिज्विक आचारशास्त्र के अच्छे लेखक हुए हैं। जर्मनी में विकासवाद के पक्षपाती हेकैल अभी मरे हैं। हार्टमान, वैराग्य-प्रधान दार्शनिक, अभी इस प्रदेश में वर्त्तमान हैं। यहाँ पाल डोसेन ने भारतीय दर्शन का अच्छा अभ्यास किया। उनके औपनिषद दर्शन और वेदान्त दर्शन पर ग्रन्थ स्पृहणीय हुए हैं। कोशकर्त्ता और मनोविज्ञानवेत्ता बल्डवीन अमेरिका में हैं। अमेरिका के लैड और जर्मनी के वुण्ड्ट शरीर-मनःसम्बन्ध के तत्त्वान्वेषक हैं। जर्मनी के उबरवेग और अर्डमान, दर्शन के बड़े इतिहास-लेखक हुए हैं। फ्रान्सवासी पाल जेनेट, दर्शन का इतिहास-लेखक, अभी वर्त्तमान है।

इधर अधिक प्रवृत्ति बाह्यकरण और अन्तःकरण के सम्बन्ध के अन्वेषण में है, जिसके नेता वुण्ड्ट हैं। इन दार्शनिकों ने अनुभवमूलक मनोविज्ञान या मनःशरीरसम्बन्ध-शास्त्र (Experimental Psychology or Psycho-Physics) नामक एक नई शाखा दर्शन की निकाली है। चित्त और ज्ञानेन्द्रिय-सम्बन्धी जितने कुछ नियम हैं, उनका वैज्ञानिक रीति से अन्वेषण इस दर्शन का विषय है। अनुभव और परीक्षा के द्वारा ज्ञानेन्द्रियों की, नाड़ियों की, मस्तिष्कों की रचना और इनके ज्ञान, इच्छा, क्रिया, आदि के साथ सम्बन्ध को इन लोगों ने किस प्रकार अन्वेषण किया है, सो यहाँ पूरी रीति से दिखलाया नहीं जा सकता; क्योंकि इस दर्शन के एक-एक विषय पर बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। आँख की रचना में कैसी विलक्षण एक बात इन दार्शनिकों ने निकाली है, सो यहाँ उदाहरणार्थ दिखाई जाती है। इन मनोविज्ञानवेत्ताओं का मत है कि आँख में एक स्थान ऐसा है कि जिसके सामने चाहे कोई वस्तु पड़े, वह देख नहीं पड़ती। इस स्थान को

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

आँख का अन्धबिन्दु कहते हैं। अब, इस स्थान के दोनों आँखों में होने का प्रत्यक्ष प्रमाण देखिए। नीचे के चित्र में यदि ताराकार चिह्न (*) पर दृष्टि रखी जाय और नाक पर, आँखों के बीच में एक सादी, छोटी, कागज़ की तख्ती रखी जाय, तो दोनों पार्श्वों के वृत्त अदृश्य हो जाते हैं।

◉

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

अनुक्रमणिका

अ

अगस्टिन पृ० ख, २५, ३४

'अचेतन का दर्शन' पृ० ८५

अर्डमान पृ० ६५, ८७

अद्वैतवाद पृ० ६

अध्यात्मवाद भूमिका पृ० ५, ८

अनुभववाद (Empirisicim) पृ०ग ४२

अपराध-स्वीकार (Confessions) पृ० २५

अमेरिका भू० पृ० ८, १२; पृ० ८७

अयोनिया पृ० १

अरब पृ० ख

अरिस्टो पृ० १९

अलक्जेण्डर भू० पृ० ८

अलेक्जेरिड्र्या पृ० ख, २१

अवतारवाद पृ० ६४

अवसरवाद (Occasionalism) ३७

अरिस्टाटल पृ० ख, ग, ८, ११, १२, १४, १५, १६, २१, २८, ३१

अरिस्टियस् पृ० १४

अस्तित्ववाद (Existentialism) भू० पृ० १२, १३

आ

आइन्स्टाइन भू० पृ० ८

आक्सफोर्ड पृ० २६

आत्मवाद पृ० घ, ५३

आत्मा पृ० क, ख

आन्तर तर्क (Dialectic Method) पृ० ५९

आयौम्बिलक्स पृ० २३

आर्किसिलाड्स पृ० १८

आविर्भाविक विकासवाद (Theory of Emergent Evolution) भू० ६

आस्ट्रिया भू० पृ० १२

इ

इंगलैण्ड भू० पृ० ५, पृ० ग, ७०, ७१, ७६

इडियज पृ० १

इटली भू० पृ० ६, पृ० ग

ई

ईजिप्ट पृ० क

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर भू० पृ० २

ईश्वरवाद पृ० ५३, ५५

ईसा पृ० ६८

उ

उत्क्रान्तिवाद (Evolution Theory) पृ० ५

उत्तमता ज्ञान की परीक्षा (Critique of Judgment) पृ० ५५

उपदेशवाद (Dogmatism) पृ० ग, घ

उपयोगवाद (Utilitarianism) पृ० ७४

उवरवेग पृ० ८७

ऋ

ऋग्वेद पृ० ६

ए

एकेश्वरवादी पृ० ५८, ७१, ७२

एथेनेसियस पृ० २५

एनेसीडियस पृ० १६, २१, ६६

एनैक्सागोरस पृ० ४

एन्सेलम पृ० ख, २६, २७, ३५, ४५, ५४

एपीक्युरस पृ० ख, १४, १६, १७

एम्पिरिक्स पृ० १६, २१

एरिस्टोम्लीज पृ० ९

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

ऐ

ऐरिटयोकस् पृ० १६
ऐएटीस्थेनीज पृ० १४
ऐनेक्सागोरस पृ० २, ७
ऐनेक्सिमेडर पृ० १
ऐनेक्सिमेडीज पृ० १, २
ऐम्पेडोक्लीज पृ० ४, ५, ७

ओ

ओरिजेन पृ० २५
ओकम पृ० २८, २६

क

कणाद पृ० ५
कपिल-कणाद भू० पृ० १
कल्पना दार्शनिक (Romantic Philosophers) पृ० ७१
काएट पृ० ग, ४१, ४५ ४७, ४६—५१, ५३—५६, ६५, ६६, ७१, ८२
कारिडयंक पृ० ग, ४७, ७१
कान्सटैएटाइन पृ० २४
कामटे भू० पृ० १२
कार्नियेडीज पृ० १८
क्लिटोन्यीज पृ० १५
क्लिमेएट पृ० २५
कुंस्तुन्तुनिया पृ० २४
कृतिशक्ति की परीक्षा (Critique of Practical Reason) पृ० ५५
केअर्ड एडवर्ड भू० पृ० ५, ६; पृ० ६५
केटिलस पृ० ६
केटो पृ० १६
केप्लर पृ० ७१
केम्ब्रिज पृ० ८७
केवेनिस पृ० ४५
कैम्पनेला पृ० ३०, ३१
कैसेलेन पृ० ४६
कैसेएडी पृ० ३१
कैल्किस पृ० २३
कोपर्निकस पृ० ग, २६, ३१
कौम्ट पृ० ६५, ७१, ७३, ७४
क्रेटिपस पृ० १६
क्रोचे भू० पृ० ६
क्रोटोना पृ० २
क्षणिक दृश्यवाद पृ० ६

ख

खीष्ट पृ० ख, ६४

ग

गानिलो पृ० २७
गाल पृ० ७३
गैलेन पृ० १६
गैलिलियो पृ० ग, २६
गैलियेन पृ० २२
गोटिंगन पृ० ८३
ग्रीन पृ० ६५, ८२
ग्रीन, टी० एच० भू० पृ० ५, ६
ग्रीस पृ० क, ख, ग

च

चार्ल्स खल्वाट पृ० २६

छ

छपरा भू० पृ० २

ज

जनीफन् पृ० ८
जर्मनी पृ० ५६, ५८, ६५, ७०, ७१, ८७
जस्टिनियन पृ० २४
जात्यन्तरों का मूल (Origin of species) पृ० ७६
जिमिनस पृ० १६
जीनो पृ० २, ३, १५, १६
जीर्नहासेन पृ० ४१
जीवशास्त्र का तत्त्व Principles of Biology) पृ० ८१

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

ज्यूलिक पृ० ३६
जेरटाइल भू० पृ० ६
जेनोफेनीज पृ० २
जेम्स भू० पृ० १०; पृ० ८७
जेसन पृ० १९
जोसिया रायस भू० पृ० ४

ट

टामेसियस पृ० ४१
टीमयस् पृ० १०
टौमस् पृ० ख, २८
टौलेमी पृ० ३१

ड

डंस स्कोट्स पृ० २८, २९
डर्बी पृ० ७९
डार्विन पृ० ५, ७६, ७७, ७८, ७९, ८२
डिमोजेनीज पृ० १
डिमोक्रीटस् पृ० ४, ५, ६, १६
डेकार्ट पृ० ग, ३१, ३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ४५ ५३, ५४
डेनमार्क पृ० ८७
डैंजिक पृ० ६५
डोमिनिक पृ० ३०
ड्रेक भू० पृ० ७
ड्यूई भू० पृ० १०

त

तर्कशास्त्र पृ० ३, ५८, ५९, ७४
तार्किक यथार्थवाद भू० पृ० ७
तार्किक सापेक्षवाद भू० पृ० १२

थ

थेलीज पृ० १, २, ७, १८

द

दार्शनिक तत्त्वों का संग्रह पृ० ५८
दिनमत पृ० ८३
दुःखवाद (Pessimism) पृ० ८६
द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) भू० पृ० ११
द्वैतवाद पृ० घ

न

नया वस्तुवाद (Neo Realism) भू० पृ० ६, ८
नये अनुभववादी पृ० ग
नव्य अध्यात्मवाद (Neo Idealism) भू० पृ० ५, ६
नव्य हेगेलवाद (Neo Hegelianism) भू० पृ० ५
नामवाद (Nominalism) पृ० २७
नार्थम्बरलैण्ड पृ० २९
निसार्कस् पृ० २
नेप्लस पृ० ३०
न्युकुलस् पृ० १९
न्युमिडिया पृ० २५
न्यूटन पृ० ४८, ७१

प

पं० गंगाधर शास्त्री भू० पृ० २
पं० देवनारायण शर्मा भू० पृ० २
पं० रामावतार शर्मा भू० पृ० १
परमाणुवादी पृ० ५, ५५
परमात्मा (Nous) पृ० ६
परमार्थदर्शन भू० पृ० १
परीक्षावाद पृ० ग, घ, ५६
पर्फेरी पृ० २२, २३
पर्सियस पृ० १५
पार्मेनिडीज पृ० २, ३, ४, १५, ६६
पाल जेनेट पृ० ८७
पिटकिन भू० पृ० ८
पीटर दी लोम्बार्ड पृ० २७
पीथागोरस पृ० २, ५, २१
पीरो पृ० १८

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

पुद्गल (Spermata) पृ० ६
पेनिटियस पृ० १६
पेरी मू० पृ० ८
पोसिडोनियस पृ० १६
प्रक्लस पृ० २४
प्रत्यक्षवादी पृ० ग, ४०
प्रत्ययान्तरत्ववाद पृ० ४५
प्रत्ययैकवादी पृ० ५०
प्रमेयवाद (Phenomenalism) पृ० ७४
प्रमेयशास्त्र (Phenomenology) पृ० ५८
प्राकृतिक दर्शन (Positive Philosophy) पृ० ७१
प्राकृतिक दर्शन की प्रथा पृ० ७१
प्रैट मू० पृ० ८
प्रोटैगोरस पृ० ४, ७, ८, ७६
प्युटार्क पृ० २२
प्लेटो पृ० ख, ग, ६, ११, १४, १८, १६, २१, २२, २६, ३१, ६५
प्लोटिनस पृ० १५, २२, २३
प्युफेन्डार्क पृ० ४१

फ

फाइलों पृ० १६, २२
फिख्ट पृ० ग, ५६, ५७, ५८, ६८
फिलोलाउज पृ० २
फिस्कर पृ० ६५
फेक्नर पृ० ८३, ८४, ८६
फ्रांस पृ० ७०, ७१

ब

बर्कले पृ० ४४
बर्गसाँ हेनरी मू० ८, ९
बर्ट्रेण्ड रसेल मू० पृ० ६, ७, ८
बल्फ पृ० ४१, ४६
बर्लिन पृ० ५६
बहुत्ववाद पृ० घ
बहुदेववाद पृ० ७१
बाइबिल पृ० ५८
बासम्बेट बर्नार्ड मू० पृ० ५, ६
बिहार मू० पृ० १
बीरा पृ० ६५
बुद्ध पृ० ६८
बुद्धिवाद पृ० ६
बुद्धिवाद का विरोध मू० पृ० ९, १०
बेकन पृ० ग, १५, ३१, ४७, ७०
बेन पृ० ग
बेण्टहम पृ० ७४, ७५
बेनेक पृ० ७०
बोग्ल पृ० ७०
ब्रूनो पृ० ३०, ३१, ४०, ५२
ब्रेडले मू० पृ० ४, ५, ६५, ८२

भ

भारत पृ० क

म

मनुष्य का अवतार (Descent of Man) पृ० ७६
मनुष्य के ज्ञान का तत्त्व (Tretaise on the Principle of Human knowledge) पृ० ४४
मनुष्य के ज्ञान की एक परीक्षा (An enquiry concerning Human understanding) पृ० ४५
मनुष्य-बुद्धि पर एक प्रबन्ध (Essay on Human Understanding) पृ० ४२
मनुस्मृति पृ० ७
मनोविज्ञान पृ० ७०
मार्क्स मू० पृ० ११, १२
मार्क्सवाद मू० पृ० १०
मानसवादी (Conceptualist) पृ० २७
मायावाद मू० पृ० १

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

मिल पृ० ग, ७४, ७५
मिल डार्विन पृ० ६५
मूर भू० पृ० ६
मेट्रोडोरस पृ० १६
मोलिसस् पृ० २
मेले ब्रांज्ञ पृ० ३६
मैंसेल पृ० ८०
मैकढगार्ट जे० ई० भू० पृ० ४, ५
मैल्थस पृ० ७६
मोंपोलियर पृ० ७१
मौंटेग भू० पृ० ८
मौरिस भू० पृ० १२
मौर्विन भू० पृ० ८

य

यथार्थवाद (Positivism) भू०पृ० १२
युक्लिडीज पृ० १२
योना पृ० ५७

र

रजोगुण पृ० ६७
राजर बेकन पृ० २६
'रात्रिमत' पृ० ८३
रीड पृ० ग, ४६, ४७
रूपान्तरित सद्वाद (Transfigured Realism) पृ० ८१
रोजर्स पृ० ५६
रोजेक्रेंज पृ० ६५
रोम पृ० ख
रोजेलिनस पृ० २७

ल

लमज्वाय भू० पृ० ८
लाक पृ० ४२, ४४, ४६, ४७, ४८, ७०, ८२
लॉज पृ० ६५, ८३
लामार्क पृ० ७३
लिंगन्बर्ग पृ० ५७
लीप्सिग पृ० ८३
लीब्नीज पृ० ग, ३९, ४०, ४२, ४६
लूशियन पृ० १६
लैंड पृ० ८७
लोज रुडोल्फ हर्मान पृ० ८३, ८७
लोम्बार्डी पृ० २६
ल्युकिपस पृ० ५
ल्वायड मार्गन भू० पृ० ९

व

वल्फ पृ० ४१
वस्तुवाद (Realism) भू० ६; ग, २७
वार्ड पृ० ८७
वाह्य वस्तुवाद पृ० घ ४५
विकास-कल्पना (Evolutionary Hypothesis) पृ० ७७
विकासवाद पृ० ७०, ७३, ८६
विटगेंस्टाइन भू० पृ० १२
विलियम पृ० २७
विवरण-प्रतिज्ञा पृ० ५०
विवेक (Logos) पृ० ३
विश्वात्मा (Demiurgus) पृ० १०
वीथियस पृ० १६
व्रुएड्ट पृ० ७०, ८७
वेदान्त भू० पृ० १
वेबर पृ० ८३
वैज्ञानिक आत्मवाद पृ० ४५
वैशेषिक भू० पृ० १
व्यवहारवाद (Pragmatism) भू० ६
व्यासिग्रह (Induction) पृ० ३१

श

शरीरात्मक सहपरिवर्त्तिता (Psycho-physical Parallelism) पृ० ३८
शिलर भू० पृ० १०
शुद्ध ज्ञान की परीक्षा (Critique of pure Reason) पृ० ५०

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

शुद्ध प्रत्यक्षवादी पृ० ४७
श्रूसबेरी मू० पृ० १०

स

संग्रहवाद पृ० १८, १६
संटायन मू० पृ० ७
संवित् (Idea) पृ० १०, १५
संविद्वाद पृ० ख, ग, ४२, ५५, ८२
संशयवाद पृ० ख, घ, १८, १६; २१, ६६
संसार इच्छा और संवित्स्वरूप पृ० ६५
संयोजक प्रतिज्ञा पृ० ५०
सक्रटीज पृ० ख, ग, ८, ६, १४, ३१
सत्ताशास्त्र पृ० घ
सप्युसिपस् पृ० १५
समाधिवाद पृ० ख
समीक्षात्मक वस्तुवाद मू० पृ० ७
सर्वेश्वरवादी पृ० ५८
सांख्य मू० पृ० १
सापेक्षवाद (Theory of Relativity) मू० पृ० ७
सामान्य दर्शन पृ० घ
सामान्य बुद्धि की दृष्टि से मनुष्य के चित की परीक्षा पृ० ४४
सामान्य बुद्धिवाद पृ० ४६
सिकन्दर पृ० १, ११, १५
सिज्विक पृ० ८७
सिसिरो पृ० १६, १६
सृष्टिवाद पृ० ५३, ७६
सेएट साइमन पृ० ७१
सेम्सटस् पृ० १६
सेनेका पृ० १६, १६
सेमस पृ० २
सेलर्स मू० पृ० ७
सेलिंग पृ० ५६, ५८
सोपेनहावर पृ० ६५, ६८, ८६
स्कोटस एरिजोना पृ० २६
स्टटगार्ट पृ० ५८
स्टर्लिंग पृ० ६५
स्टर्लिंग जे० एच्० मू० पृ० ४
स्टोइक पृ० ख, १५
स्ट्रोंग मू० पृ० ७
स्ट्युअर्ट पृ० ४७
स्पाइनोजा पृ० ३७, ३६, ४०
स्पेन्सर पृ० ६५, ७६, ७६, ८२
पौल्डिंग मू० पृ० ८

ह

हर्बर्ट पृ० ६५, ७०, ८३, ८४
हर्बार्ट पृ० ६८, ६६
हार्फ़डिंग पृ० ८७
हार्टमैन एडुअर्डवान पृ० ८५, ८६, ८७
हिप्पो पृ० १, २५
हेगेल पृ० ८७
हेगेल मू० पृ० ५, ६, ७, ८, ११; पृ० ५६, ५७—५६, ६२, ६५, ६६, ७१, ८२, ८३
हेजीसियस पृ० १४
हेलुवादी तार्किक (Sophoi) पृ० ७
हेरैक्लिटस् मू० पृ० ६; ५, १५, ६८
हेमिल्टन पृ० ८०
हैमिल्टन की परीक्षा पृ० ७४
होल्ट मू० पृ० ८
हौब्स पृ० ३१, ३८
ह्यूम पृ० ग, ४५—४६, ६०, ७१, ७४

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0.In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal